दा॰ सं॰ १८

(श्री. द्वा. ग्र. माला २४ पुष्पम्)

दैवजीवोद्धारपरायणाचार्यचक्र-चूडामणि-जगद्गुरु-
श्रीमद्वल्लभाचार्य-प्रतिपादित शु० सिद्धान्त-प्रकाशन-परया

" मनस्विनी "

व्याख्यया सम्बलिता

केनोपनिषद्

व्याख्याता -

गो० श्रीबालकृष्णशास्त्री

विद्यानिधि.

※

सा च

श्री. शु० स० तृ० पीठाधीश्वर गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराजाना
प्रबन्धबले

गो० कण्ठमणिशास्त्रिणा सम्पाद्य

काकरोली-विद्याविभागतः

प्रकाशिता

प्रकाशक :—

प्रो० कण्ठमणिशास्त्री
सञ्चालकः
विद्याविभाग, काकरोली ।

प्रथम संस्करणम् ५०० | अधिक भाद्रपद सं २०१२ | मूल्यम् २)

मुद्रक -
चन्द्रकान्त भूषणदासजी साधू
चेतन प्रकाशन मन्दिर (प्रिं० प्रे०), शीयाबाग,
बडौदा ता १-९-५५.

विषयानुक्रमणिका

—०—

प्रासङ्गिक

※

—केनोपनिषद्-रहस्य—

(पो कण्ठमणिशास्त्री)

उपनिषद्–विद्या :—

अभ्युदय निःश्रेयस-साधिका भारतीय संस्कृति के प्राणाधार वैदिक साहित्य में ' उपनिषद् ' शब्द से उस ब्रह्म–विद्या का ग्रहण किया जाता है, जिसके द्वारा साधना-परायण जीव के समस्त दोषों का निरास होकर परमार्थ रूप में उसे रस स्वरूप, परमानन्द परब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

' उपनिषद् ' शब्द के उपसर्ग-प्रकृति प्रत्ययार्थ द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है । वैदिक भाष्यों के प्रणेताओं ने शब्दान्तर से इसी अभिप्राय को स्वीकार किया है, जिसका परिज्ञान तत्तद्-भाष्यों के परिशीलन से प्राप्त हो सकता है, एतावता सक्षेप में जहां मुख्य वृत्ति से ' उपनिषद् ' शब्द ब्रह्म–विद्या का बोधन कराता है, वहां गौण वृत्ति से (तादर्थ्यात्) तत्प्रतिपादक ग्रन्थ का भी । जैसा कि—

' उपनिषदमब्रूम ' (केन ४, ३२) ' एतदुपनिषदो भविष्यन्ति ' (छा. ८।८।४) आदि वाक्यों द्वारा इस की पुष्टि होती है । तात्पर्य यह कि-यद्यपि ऐसी सभी विद्याएं जो–किसी भी रूप में तिरोहितानन्द जीव को पूर्णानन्द की ओर ले जाती हैं, और इसके पूर्व उसके सांसारिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर उसे निर्दुष्ट, शुद्ध तपोमय बना देती हैं–ब्रह्मविद्याएं होने से ' उपनिषद् ' कहलाती हैं+ तथापि तादृश विद्याओं के प्रतिपादक ईशावास्यादि ग्रन्थों को ही ' उपनिषद् ' कहा गया है । एक प्रकार से यह शब्द इन्हीं के लिये योगरूढ हो गया है ।

+ ईश तथा केन की मनस्विनी व्याख्या–(उपक्रम कारिका)

वेद-चतुष्टयी में इस प्रकार की १०८ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। जिनका नाम, वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ के साथ मुक्तिकोपनिषद् (प्र अध्याय) में उपलब्ध होता है। ब्रह्म-विद्याप्रतिपादक इन उपनिषदों की महत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि- इनमें ३२ उपनिषद् मुख्य हैं, ३२ में भी दस विशेष महत्व रखती हैं। वहा लिखा है :--

" माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्यसिद्ध चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
तथापि दृढता नोचेद्विज्ञानस्याञ्जना-सुत !
द्वात्रिंशाख्योपनिषद् समभ्यस्य निवर्तय
विदेहमुक्ताविच्छाचेदष्टोत्तरशतं पठ "-:-

(मुक्ति-प्र अ.)

प्रस्तुत कथन से उपनिषदों में यद्यपि तरतम भाव आँका जासक्ता है तथापि ब्रह्मसूत्र द्वारा विशिष्ट श्रुतियों के सन्देह-निराकरण पूर्वक रहस्य-विश्लेषण में तत्तद्भाष्य-रचयिता पूर्वाचार्यों ने दश उपनिषदों को ही गौरव दिया है।

" ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरि ।
ऐतरेय च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा "

(मुक्ति० १।३०)

शु सिद्धान्त के प्रकृष्ट विद्वान् मठपति जयगोपाल भट्ट ने तैत्तिरीयोपनिषद् के 'आनन्द-वल्लीभाष्य' में उपनिषदों का एक वर्गीकरण किया है।

— व्यास सूत्र-भाष्य में एक स्थान पर श्रीमन्मध्वाचार्य ने ' काषायणादि ' अन्य उपनिषदों का भी उल्लेख किया है।

साम्प्रतिक विदेशी विद्वान् उपनिषदों की सख्या २३५ मानते हैं।

(इन्ट्रोडक्षन ऑफ उपनिषद्-मेक्समूलर पत्र (XVIII)

परन्तु इनका नाम-निर्देश मुक्तिकोपनिषद् में नहीं है, और न इनके वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ का सकेत ही। अत इनकी प्रामाणिकता में स्वत. सन्देह होता है।

उनके कथनानुसार, कुछ उपनिषद् प्रमेय स्वरूप कार्यकारणात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ शुद्ध निर्गुण परमकाष्ठापन्न परब्रह्म का, कुछ साधन और फलों का विवेचन उपस्थित करती हैं। किन्हीं उपनिषदों में सभी का संकलन है। तात्पर्यत,– उपदेश, शंका और प्रतिवचन के अनुरूप सभी दिशाओं से ब्रह्मज्ञान की पुष्टि करना ही औपनिषद् विद्या का लक्ष्य है। सम्वाद, आख्यायिका उदाहरण और ऐतिह्य द्वारा वेदाभिप्राय को समझाने में उपनिषदों ने जो सौकर्य उपस्थित किया है, वह साधक के लिये परमोच्च सुलभ साधन है–यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। इसी कारण इन्हें 'वेदान्त' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वास्तव में वेद के हार्दिक अर्थ की परिसमाप्ति एक प्रकार से यहीं हो जाती है।

शु० सिद्धान्त का वैदिक साहित्य–

विश्व-कल्याणकारक, सत्य ज्ञान के अक्षय भंडार परमात्मा श्रीहरि के निःश्वासरूप वेद–चतुष्टय, भगवान् श्रीकृष्ण की मुखपद्म-विनिःसृत गीता, महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास की ब्रह्मसूत्र-मीमांसा एवं दैवी जीवों की हृत्तापोपशमनी भागवतीय समाधिभाषा – इस प्रमाण–चतुष्टय से निष्पन्न प्रमेय स्वरूप शुद्धाद्वैत आम्नाय में वेद अथवा तदन्तर्भूत उपनिषदों पर मूलाचार्य श्रीवल्लभाचार्य कृत किसी भाष्य विवरणात्मक रचना+ का अभाव एक ऐसा शोचनीय विषय नहीं है–जो उसकी वैदिकता के प्रति सन्देह को जागृत करता हो, अथवा अपनी परिपुष्टि के लिये परमुखापेक्षी हो।

शु सिद्धान्त के परिशीलन में आचार्यों की स्पष्टोक्ति से :—

" ये धातुशब्दा यत्रार्थे, उपदेशे प्रकीर्तिताः।

तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥ "

(सर्वनि निबन्ध)

'वैदिक तत्त्वज्ञान का सुगम पन्था दृष्टिगोचर होने लगता है, और ननु नच' किम्वा दुराग्रह के विना– तात्त्विक अध्ययन की समस्या सुलझ'

+यद्यपि बर्लिन की लाइब्रेरी में वल्लभाचार्य कृत 'वेदवल्लभ' भाष्यका नाम सुना जाता है-पर अद्यावधि वह केवल कर्णगत ही है।

वेद-चतुष्टयी में इस प्रकार की १०८ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। जिनका नाम, वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ के साथ मुक्तिकोपनिषद् (प्र अध्याय) में उपलब्ध होता है। ब्रह्म-विद्याप्रतिपादक इन उपनिषदों की महत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि- इनमें ३२ उपनिषद् मुख्य हैं, ३२ में भी दस विशेष महत्व रखती हैं। वहां लिखा है '--

" माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्यसिद्ध चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
तथापि दृढता नोचेद्विज्ञानस्याञ्जना-सुत !
द्वात्रिंशाख्योपनिषद् समभ्यस्य निवर्तय
विदेहमुक्ताविच्छाचेदष्टोत्तरशतं पठ "÷

(मुक्ति-प्र अ.)

प्रस्तुत कथन से उपनिषदों में यद्यपि तरतम भाव आँका जासकता है तथापि ब्रह्मसूत्र द्वारा विशिष्ट श्रुतियों के सन्देह-निराकरण पूर्वक रहस्य-विश्लेषण में तत्तद्भाष्य-रचयिता पूर्वाचार्यों ने दश उपनिषदों को ही गौरव दिया है।

" ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरि ।
ऐतरेय च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा "

(मुक्ति० १।३०)

शु सिद्धान्त के प्रकृष्ट विद्वान् मठपति जयगोपाल भट्ट ने तैत्तिरीयोपनिषद् के 'आनन्द-वल्लीभाष्य' में उपनिषदों का एक वर्गीकरण किया है।

— व्यास सूत्र-भाष्य में एक स्थान पर श्रीमन्मध्वाचार्य ने ' काषायणादि ' अन्य उपनिषदों का भी उल्लेख किया है।

साम्प्रतिक विदेशी विद्वान् उपनिषदों की संख्या २३५ मानते हैं।

(इन्ट्रोडक्षन ऑफ उपनिषद्-मेक्समूलर पत्र (XVIII)

परन्तु इनका नाम-निर्देश मुक्तिकोपनिषद् में नहीं है, और न इनके वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ का संकेत ही। अत इनकी प्रामाणिकता में स्वत॰ सन्देह होता है।

उनके कथनानुसार, कुछ उपनिषद् प्रमेय स्वरूप कार्यकारणात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ शुद्ध निर्गुण परमकाष्ठापन्न परब्रह्म का, कुछ साधन और फलों का विवेचन उपस्थित करती हैं। किन्ही उपनिषदों में सभी का संकलन है। तात्पर्यतः,– उपदेश, शंका और प्रतिवचन के अनुरूप सभी दिशाओं से ब्रह्मज्ञान की पुष्टि करना ही औपनिषद् विद्या का लक्ष्य है। सम्वाद, आख्यायिका उदाहरण और ऐतिह्य द्वारा वेदाभिप्राय को समझाने में उपनिषदों ने जो सौकर्य उपस्थित किया है, वह साधक के लिये परमोच्च सुलभ साधन है–यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। इसी कारण इन्हें 'वेदान्त' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वास्तव में वेद के हार्दिक अर्थ की परिसमाप्ति एक प्रकार से यहीं हो जाती है।

शु० सिद्धान्त का वैदिक साहित्य–

विश्व-कल्याणकारक, सत्य ज्ञान के अक्षय भंडार परमात्मा श्रीहरि के निःश्वासरूप वेद–चतुष्टय, भगवान् श्रीकृष्ण की मुखपद्म-विनिःसृत गीता, महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास की ब्रह्मसूत्र-मीमांसा एवं दैवी जीवों की हृत्तापोपशमनी भागवतीय समाधिभाषा – इस प्रमाण–चतुष्टय से निष्पन्न प्रमेय स्वरूप शुद्धाद्वैत आम्नाय में वेद अथवा तदन्तर्भूत उपनिषदों पर मूलाचार्य श्रीवल्लभाचार्य कृत किसी भाष्य विवरणात्मक रचना+ का अभाव एक ऐसा शोचनीय विषय नहीं है–जो उसकी वैदिकता के प्रति सन्देह को जागृत करता हो, अथवा अपनी परिपुष्टि के लिये परमुखापेक्षी हो।

शु सिद्धान्त के परिशीलन में आचार्यों की स्पष्टोक्ति से :—

" ये धातुशब्दा यत्रार्थे, उपदेशे प्रकीर्तिताः।

तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ॥ "

(सर्वनि निबन्ध)

'वैदिक तत्वज्ञान का सुगम पन्था दृष्टिगोचर होने लगता है, और ननु नच' किम्वा दुराग्रह के बिना– तात्विक अध्ययन की समस्या सुलझ'

+यद्यपि बर्लिन की लाइब्रेरी में वल्लभाचार्य कृत 'वेदवल्लभ' भाष्यका नाम सुना जाता है-पर अद्यावधि वह केवल कर्णगत ही है।

वेद-चतुष्टयी में इस प्रकार की १०८ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। जिनका नाम, वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ के साथ मुक्तिकोपनिषद् (प्र अध्याय) में उपलब्ध होता है। ब्रह्म-विद्याप्रतिपादक इन उपनिषदो की महत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि- इनमें ३२ उपनिषद् मुख्य हैं, ३२ में भी दस विशेष महत्व रखती हैं। वहां लिखा है :--

" माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्यसिद्ध चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
तथापि दृढता नोचेद्विज्ञानस्याञ्जना-सुत !
द्वात्रिंशाख्योपनिषद् समभ्यस्य निवर्तय
विदेहमुक्ताविच्छाचेदष्टोत्तरशतं पठ "-÷

(मुक्ति-प्र. अ.)

प्रस्तुत कथन से उपनिषदों में यद्यपि तरतम भाव आंका जासकता है. तथापि ब्रह्मसूत्र द्वारा विशिष्ट श्रुतियों के सन्देह-निराकरण पूर्वक रहस्य-विश्लेषण में तत्तद्भाष्य-रचयिता पूर्वाचार्यों ने दश उपनिषदों को ही गौरव दिया है।

" ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरि ।
ऐतरेय च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा "

(मुक्ति० १।३०)

शु सिद्धान्त के प्रकृष्ट विद्वान् मठपति जयगोपाल भट्ट ने तैत्तिरीयोपनिषद् के 'आनन्द-वल्लीभाष्य' में उपनिषदों का एक वर्गीकरण किया है।

÷ व्यास सूत्र-भाष्य में एक स्थान पर श्रीमन्मध्वाचार्य ने 'काषायणादि' अन्य उपनिषदों का भी उल्लेख किया है।

साम्प्रतिक विदेशी विद्वान् उपनिषदों की सख्या २३५ मानते हैं।

(इन्ट्रोडक्षन ऑफ उपनिषद्-मेक्समूलर पत्र (XVIII)

परन्तु इनका नाम-निर्देश मुक्तिकोपनिषद् में नहीं है, और न इनके वैदिक विभाग और शान्ति-पाठ का संकेत ही। अत इनकी प्रामाणिकता में स्वत सन्देह होता है।

इस प्रकार प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर आचार्यों के आत्मज श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण ने ' विद्वन्मण्डन ' तथा अन्य टीका-ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त श्रुतियों के रहस्य का उद्घाटन किया है, तथापि विद्वत्समाज के विनोद की परिसमाप्ति उससे नहीं हो पाई। आगे चलकर मठपति जय-गोपाल भट्ट ने तैत्तरीचोपनिषद् की आनन्दवल्ली, एवं गोस्वामिप्रवर श्रीपुरुषो-त्तमजी ने कतिपय उपनिषदों पर भाष्य-रचना की। सर्वज्ञ योगिश्रीगोपेश्वरजी ने प्रस्तुत दिशा में विशेष श्रमकर ' यजुर्वेद-नवार्थी भाष्य का निर्माण और कुछ उपनिषदो पर स्वतन्त्र विवेचनाए भी कीं, पर सम्प्रति अधिकांश वे उपलब्ध नहीं होती। श्रीपुरुषोत्तमजी कृत ' माण्डूक्योपनिषद्-दीपिका नामक टीका प्राप्त और प्रकाशित है, जिसमें समर्थ पद्धति से कारिकाओं पर विचार विनिमय किया गया है। इसके अनन्तर काशीस्थ गो श्री गिरिधरजी ने ' श्रुति-रहस्य ' नामक ग्रन्थ में कुछ विशिष्ट श्रुतियों का विशेषार्थ-परत्वेन व्याख्यान किया।

विगत ६०-७० वर्षों के युग में शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुसार उपनिषदों पर अधिक संख्या में व्याख्यान प्रस्तुत किये गये, जो इस प्रकार हैं .-

(१) ईशावास्योपनिषद्-भाष्य .--

(क) श्री बालकृष्ण शास्त्रीजी (संस्कृत)

(ख) श्री बलभद्र शर्माजी (,,)

(ग) श्री मोहनलाल शास्त्रीजी (,,)

(घ) श्री कण्ठमणि शास्त्री (हिन्दी)×

(ङ) श्री सबलकिशोरजी चतुर्वेद (सं. हि.)

(२) केनोपनिषद्-भाष्य :--

(क) श्री बालकृष्ण शास्त्रीजी (संस्कृत)

(ख) श्री मुखिया गोकुलदासजी शास्त्री ,,

(३) कठोपनिषद् भाष्य-(अपूर्ण) —

(क) भा. मा प. श्री गट्टूलालजी

× यह अप्रकाशित है, शेष प्रकाशित हैं

जाती है। इस प्रकार निरुक्त, निघण्टु, प्रातिशाख्य की पद्धति से यद्यपि वैदिक अर्थावबोध निरापद सिद्ध हो जाता है, तथापि जीवगत बुद्धिमान्द्य, अदान्तत्व, चापल्य एव कालोपद्रुतता आदि दोषों से संशयानवगाही परमार्थज्ञान की असंभवता जानकर परमकृपालु आचार्यों ने बुभुत्सुओं के लिये एक और भी सरल सरणि का निर्माण कियाथा, जिसे हम ' सर्वशास्त्र-समन्वय ' की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

तत्त्वदीप शास्त्रार्थ-निबन्धीय प्रमाण – प्रकरण में ' उत्तर पूर्वसन्देह वारक परिकीर्तित० ' से उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया है कि– प्रमाण–चतुष्टय की एकवाक्यता ही वास्तविक सिद्धान्तावगाहन की कसौटी है। ' अविरुद्ध तु यत्त्वस्य प्रमाण०' और ' एतद्विरुद्ध यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन० ' के द्वारा उक्त कथन को स्थूणा–खननन्याय से दृढ कर दिया गया है। अत -उक्त दोनों उक्तियों से जहां व्यापक सार्वभौम ज्ञान–मार्ग को उन्मुक्त रखा गया है, वहा भ्रामक ज्ञानजाल से सावधान रहने की ओर भी इंगित किया गया है।

महाप्रभु ने उक्त चतुष्टयी में श्रुति सूत्रों को एक कोटि में और गीता भागवत को द्वितीय कोटि में स्थापित किया हैं, तथापि एक विशिष्ट दृष्टि से 'भगवदुपदिष्ट' एव 'गुरूपदिष्ट' इन दो कोटियों में भी उन्हें विभाजित कर प्रथम में श्रुति और गीता तथा द्वितीय में ब्रह्मसूत्र और भागवत को अभिनिविष्ट किया जा सकता है।

' सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ' के अनुसार श्रुति–उपनिषद्–धेनुओं का गीतारूपी अमृत सद्य प्रस्तुत सहज मधुर दुग्ध है, जो ब्रह्मसूत्र–मीमांसारूपी सुवर्णपात्र में शकासमाधानानल से आसंचित और भगवच्चरित्र (भागवत) माधुर्य से संपृक्त कर सात्विक पेयरूप में परिणत किया गया है। एतावता–प्रस्तुत रस के सुखद पान से भी यदि वेदार्थ की पिपासा शान्त नहीं हो सकती तो 'नातः परतरोभ्युपाय·' [१] ही है। सारांशत आचार्यों ने वेद किम्वा उपनिषदों पर प्रत्यक्ष भाष्य न करते हुए भी उनके गांभीर्य को ब्रह्मसूत्रीय अणुभाष्य और भागवतीय सुबोधिनी द्वारा अभिव्यक्त किया है, जो– स्वल्प अभ्यास से भी बोधगम्य है।

इस प्रकार प्रारंभिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर आचार्यों के आत्मज श्रीविठ्ठलेश प्रभुचरण ने 'विद्वन्मण्डन' तथा अन्य टीका-ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त श्रुतियों के रहस्य का उद्‌घाटन किया है, तथापि विद्वत्समाज के विनोद की परिसमाप्ति उससे नहीं हो पाई। आगे चलकर मठपति जयगोपाल भट्ट ने तैत्तरीयोपनिषद् की आनन्दवल्ली, एवं गोस्वामिप्रवर श्रीपुरुषोत्तमजी ने कतिपय उपनिषदों पर भाष्य-रचना की। सर्वज्ञ योगिश्रीगोपेश्वरजी ने प्रस्तुत दिशा में विशेष श्रमकर 'यजुर्वेद-नवार्थी भाष्य का निर्माण और कुछ उपनिषदों पर स्वतन्त्र विवेचनाएं भी कीं, पर सम्प्रति अधिकांश वे उपलब्ध नहीं होती। श्रीपुरुषोत्तमजी कृत 'माण्डूक्योपनिषद्-दीपिका नामक टीका प्राप्त और प्रकाशित है, जिसमें समर्थ पद्धति से कारिकाओं पर विचार विनिमय किया गया है। इसके अनन्तर काशीस्थ गो श्री गिरिधरजी ने 'श्रुति-रहस्य' नामक ग्रन्थ में कुछ विशिष्ट श्रुतियों का विशेषार्थ-परत्वेन व्याख्यान किया।

विगत ६०-७० वर्षों के युग में शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुसार उपनिषदों पर अधिक संख्या में व्याख्यान प्रस्तुत किये गये, जो इस प्रकार हैं :-

(१) ईशावास्योपनिषद्-भाष्य :—

(क) श्री बालकृष्ण शास्त्रीजी (संस्कृत)

(ख) श्री बलभद्र शर्माजी (,,)

(ग) श्री मोहनलाल शास्त्रीजी (,,)

(घ) श्री कण्ठमणि शास्त्री (हिन्दी)×

(ङ) श्री सबलकिशोरजी चतुर्वेद (सं. हि.)

(२) केनोपनिषद्-भाष्य :—

(क) श्री बालकृष्ण शास्त्रीजी (संस्कृत)

(ख) श्री मुखिया गोकुलदासजी शास्त्री ,,

(३) कठोपनिषद् भाष्य-(अपूर्ण) :—

(क) आ मा. प. श्री गट्टूलालजी

× यह अप्रकाशित है, शेष प्रकाशित हैं

(४) छान्दोग्योपनिषद्-भाष्य (अपूर्ण) :—

(क) श्री रमानाथ शास्त्रीजी

साधारणतया दृष्टिपात करने पर यह विदित होता है कि-शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के विद्वानों ने इस अभाव की पूर्ति का यद्यपि प्रयत्न किया है, तथापि एक बड़ा अंश अभी व्याख्यान के लिये अवशिष्ट रह गया है ।

प्रस्तुत केन–उपनिषद् :—

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है–दशोपनिषद् की क्रमगणना में ' केन ' का स्थान द्वितीय है । यह सामवेदीय तवलकार शाखा की उपनिषद् है, और ' आप्यायन्तु ममाङ्गानि इस मन्त्र के द्वारा इसका शान्ति-पाठ होता है×

यद्यपि शाकर भाष्यानुसार प्रस्तुत उपनिषद् उक्त शाखा का नवम अध्याय है, और इसके पूर्व आठ अध्यायों में कर्मो की अशेषत परिसमाप्ति हो गई हे । अत यह परब्रह्म-ज्ञान विषयक उपनिषद् है* तथापि समुपलब्ध शाखा की प्रतियों में पञ्चमाध्याय में ही यह मिलती है, जो-डाक्टर बर्नेल, के कथनानुसार एक विसंवाद है । प्राचीन प्रतियों की अनुपलब्धि में याथातथ्य से इसका निर्णय करना असंभव-सा है । अस्तु

जिस प्रकार ईशावास्य ० ' आदि से प्रारंभ होने के कारण उसका नाम ' ईशोपनिषद् ' हो गया है, इसी प्रकार ' केनेपितं ' आदि मन्त्र होने के कारण इस उपनिषद् का नाम भी ' केनोपनिषद् ' पड गया है ।

वैदिक साहित्य के अध्ययनशील कुछ ' रेजों ' प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् प्रस्तुत उपनिषद् को ' अथर्ववेदीय' उपनिषद् कहते हैं । और इस कथन की पुष्टि में वे ' उमा हैमवती ' शब्दों एवं उसके उपाख्यान को पुरस्कृत करते हैं । ' यावन्मात्र शैवी उपनिषद् अथर्ववेद में ही उपलब्ध होती हैं–और ' उमा हैमवती ' का उपदेश होने से यह भी शैवी उपनिषद् है ' इस प्रकार की शंका वे उपस्थापित करते हैं ।

× मुक्तिकोपनिषद् (प्र अ)

* केनेपितमित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायस्यारम्भः । प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषत परिसमापितानि (केन० शां भा) .

जैसा कि अग्रे प्रतिपादन किया जायगा 'उमा' और 'हैमवती' शब्दों से इसकी गणना शैवी उपनिषदों में नहीं हो सकती। मुक्तिकोपनिषद् की गणना में इसे सामवेदीय उपनिषदों में प्रतिष्ठित किया गया है। अथर्ववेदीय उपनिषदों का शान्ति-पाठ जहां 'भद्रं कर्णेभि०' इत्यादि मन्त्रों से होता है-वहां अन्य सामवेदीय उपनिषदों के समान इसका शान्ति-पाठ 'आप्यायन्तु०' इत्यादि मन्त्र से होता है। एतावता उक्त कथन सगत नहीं जँचता।

दूसरी बात यह भी है कि-'सास्य देवता इस पाणनि सूत्र के आधार पर 'शिवदेवता' वाली उपनिषदों को ही 'शैवी' कहा जा सकता है, जिन्होंमें शैव धर्मोपयोगी रुद्राक्षादि वस्तुओ किम्वा साधनो का उपदेश हो-और जो शिव देवता का ही सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपादन करती हो। शैवागमोपयोगी 'रुद्राक्ष जाबालोपनिषद्' की भाँति प्रस्तुत उपनिषद् में ऐसे किसी प्रतिपाद्य विषय का वर्णन नहीं है-जो इसे उक्त कोटि में रख सके। ब्रह्म-माहात्म्यावबोधन द्वारा तत्स्तुतिपरक होने से भी हम इसे सामवेदीय परिगणित कर सकते हैं-अत. इसके सामवेदीय उपनिषद् होने में किसी प्रकार का शका-लेश भी नहीं है।

इसी प्रकार मान्त्रिक परिगणना में भी एक शंका उठती है किन्ही प्रतियो में प्रारभ से अन्त तक मंत्रों की क्रमश. संख्या दी गई है, तो किन्ही में खण्डश। परन्तु यह शंका कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है-लेखक के सौकर्य से दोनों पद्धतिया संभव हो सकती हैं।

'उमा हैमवती' शब्दार्थ :—

इस उपनिषद् के तृतीय खण्डान्त में वर्णन है कि—जब इन्द्र के सन्मुख यक्ष का तिरोभाव हो गया, तब तत्वोपदेशार्थ एक स्त्री का प्रादुर्भाव हुआ जो-दिव्य हेमाभरणवती भगवती उमा थीं, उन्होंने इन्द्र को ब्रह्म का बोधन कराया।

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है —अधिकांश पाश्चात्य विद्वान 'उमा हैमवती' शब्दों से इस उपनिषद् को अथर्ववेदीय शैवी उपनिषद् मानते हैं। इस शब्द से साधारणतया-'हिमवान् की पुत्री हैमवती भगवती 'उमा' 'शिव की पत्नी' का ही अर्थ लेने और इसके व्यापक

(४) छान्दोग्योपनिषद्-भाष्य (अपूर्ण) :—

(क) श्री रमानाथ शास्त्रीजी

साधारणतया दृष्टिपात करने पर यह विदित होता है कि-शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के विद्वानों ने इस अभाव की पूर्ति का यद्यपि प्रयत्न किया है, तथापि एक बड़ा अंश अभी व्याख्यान के लिये अवशिष्ट रह गया है ।

प्रस्तुत केन-उपनिषद् :—

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है-दशोपनिषद् की क्रमगणना में ' केन ' का स्थान द्वितीय है । यह सामवेदीय तवलकार शाखा की उपनिषद् है, और ' आप्यायन्तु ममाङ्गानि इस मन्त्र के द्वारा इसका शान्ति-पाठ होता है×

यद्यपि शाकर भाष्यानुसार प्रस्तुत उपनिषद् उक्त शाखा का नवम अध्याय है, और इसके पूर्व आठ अध्यायों में कर्मों की अशेषत परिसमाप्ति हो गई है । अत यह परब्रह्म-ज्ञान विषयक उपनिषद् है* तथापि समुपलब्ध शाखा की प्रतियों में पञ्चमाध्याय में ही यह मिलती है, जो-डाक्टर बर्नेल, के कथनानुसार एक विसंवाद है । प्राचीन प्रतियों की अनुपलब्धि में याथातथ्य से इसका निर्णय करना असभव-सा है । अस्तु

जिस प्रकार ईशावास्य ० ' आदि से प्रारभ होने के कारण उसका नाम ' ईशोपनिषद् ' हो गया है, इसी प्रकार ' केनेषितं ' आदि मन्त्र होने के कारण इस उपनिषद् का नाम भी ' केनोपनिषद् ' पड़ गया है ।

वैदिक साहित्य के अध्ययनशील कुछ ' रेजों ' प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् प्रस्तुत उपनिषद् को ' अथर्ववेदीय' उपनिषद् कहते है । और इस कथन की पुष्टि में वे ' उमा हैमवती ' शब्दों एवं उसके उपाख्यान को पुरस्कृत करते हैं । ' यावन्मात्र शैवी उपनिषद् अथर्ववेद में ही उपलब्ध होती हैं-और ' उमा हैमवती ' का उपदेश होने से यह भी शैवी उपनिषद् है ' इस प्रकार की शका से उपस्थापित करते हैं ।

× मुक्तिकोपनिषद् (प्र अ)

* केनेषितमित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायस्यारम्भः । प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषत परिसमापितानि (केन० शा. भा.) ।

जैसा कि अग्रे प्रतिपादन किया जायगा 'उमा' और 'हैमवती' शब्दो से इसकी गणना शैवी उपनिषदों में नहीं हो सकती। मुक्तिकोपनिषद् की गणना में इसे सामवेदीय उपनिषदों में प्रतिष्ठित किया गया है। अथर्ववेदीय उपनिषदों का शान्ति-पाठ जहा 'भद्र कर्णेभि०' इत्यादि मन्त्रों से होता है-वहां अन्य सामवेदीय उपनिषदों के समान इसका शान्ति-पाठ 'आप्यायन्तु०' इत्यादि मन्त्र से होता है। एतावता उक्त कथन सगत नहीं जँचता।

दूसरी बात यह भी है कि-'सास्य देवता इस पाणनि सूत्र के आधार पर 'शिवदेवता' वाली उपनिषदो को ही 'शैवी' कहा जा सकता है, जिन्होमें शैव धर्मोपयोगी रुद्राक्षादि वस्तुओ किम्वा साधनों का उपदेश हो-और जो शिव देवता का ही सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपादन करती हो। शैवागमोपयोगी 'रुद्राक्ष जाबालोपनिषद्' की भाँति प्रस्तुत उपनिषद् में ऐसे किसी प्रतिपाद्य विषय का वर्णन नहीं है-जो इसे उक्त कोटि में रख सके। ब्रह्म-माहात्म्यावबोधन द्वारा तत्स्तुतिपरक होने से भी हम इसे सामवेदीय परिगणित कर सकते हैं-अत इसके सामवेदीय उपनिषद् होने में किसी प्रकार का शंका-लेश भी नहीं है।

इसी प्रकार मान्त्रिक परिगणना में भी एक शका उठती है किन्ही प्रतियो में प्रारभ से अन्त तक मंत्रो की क्रमश. संख्या दी गई है, तो किन्ही में खण्डश.। परन्तु यह शंका कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है-लेखक के सौकर्य से दोनों पद्धतिया संभव हो सकती हैं।

'उमा हैमवती' शब्दार्थ :—

इस उपनिषद् के तृतीय खण्डान्त में वर्णन है कि—जब इन्द्र के सन्मुख यक्ष का तिरोभाव हो गया, तब तत्त्वोपदेशार्थ एक स्त्री का प्रादुर्भाव हुआ जो-दिव्य हेमाभरणवर्नी भगवती उमा थी, उन्होंने इन्द्र को ब्रह्म का बोधन कराया।

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है —अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् 'उमा हैमवती' शब्दों से इस उपनिषद् को अथर्ववेदीय शैवी उपनिषद् मानते हैं। इस शब्द से साधारणतया- 'हिमवान् की पुत्री हैमवती भगवती 'उमा' 'शिव की पत्नी' का ही अर्थ लेने और इसके व्यापक

'केन' का तत्व —

'उपनिषद्' शब्दार्थ से प्रथम यह सिद्ध हो चुका है कि–जिस विद्या के द्वारा निर्दिष्ट अवस्था सम्पन्न जीव को परम पुरुषार्थरूप दुःखाभाव और सत्य सुख की प्राप्ति होती है–वह विद्या 'उपनिषद्' कहलाती है। यहाँ 'मनस्विनी' व्याख्यानुसार प्रस्तुत औपनिषद् तत्व का दिग्दर्शन करा देना हम आवश्यक समझते हैं —

यह तो निश्चित है कि, 'श्रेयो–त्रियश्रया प्रोक्त' त्रिविध योगों में से केवल कर्म के द्वारा पापपुण्यों की श्रृंखला समाप्त नहीं हो सकती। उससे अधिक से अधिक स्वर्गादिलोक–प्राप्ति संभव है–जो अक्षय्य नहीं है, अपुनरावृत्ति' किम्वा 'अमृतत्व' की प्राप्ति उससे अशक्य है, एतावता फलाकांक्षा–राहित्यपूर्वक केवल चित्तशुद्ध्यर्थ कर्म करना अपरिहार्य है। इस कर्मयोग द्वारा सत्त्व–संशुद्धि से ज्ञान–प्राप्ति में सौकर्य हो जाता है, तदनु सद्गुरु की कृपा से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

ज्ञानमार्ग के अनुसरण से सांसारिक शोकमोहादि के नाशपूर्वक तत्वज्ञान की उपलब्धि होती है, अर्थात् विषयात्मक बन्धनों से उन्मुक्त होने पर जीव को 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के अनुसार दुःखाभाव पुरुषार्थ की सिद्धि तो होती है, पर परब्रह्म के परमानन्दाशनरूप सुख की प्राप्ति नहीं। परब्रह्म सभी कर्म ज्ञान भक्ति रूप साधनों से अलभ्य है, जिसका कई स्थानों पर स्पष्टीकरण हो चुका है–वह तो साध्यभक्ति–अनुग्रह–कृपैकलभ्य है–और उस के द्वारा ही जीव को स्वरूपानन्द–सुख परम–पुरुषार्थ समधिगत हो सकता है।

कर्म अर्थस्वरूप है, ज्ञान पुरुषार्थरूप है, और भक्ति परमपुरुषार्थ है।

एतावता शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में–"भक्त्यैवपरमश्रेयो जीवानां नान्यथेतिहि" (केन–मन० उपक्रम–कारिका ६) कहकर भक्ति को ही मुख्य उपाय बताया गया है। जीवकृति से सिद्ध उपायों को साधन कहा जाता है। पुष्टि–कृपा–अनुग्रह–वरण–भगवद्धर्म है–अतः जब जीव स्वकृत साधनों को करते हुए श्रान्त होकर बैठ रहता है–निःसाधनता को प्राप्त हो जाता है–तब 'अहंता' – निवृत्ति और 'दीनत्व' – प्रवृत्ति से कृपा–भगवद्धर्म,

अग्रेसर हो कर उस का उद्धार करता है। अत. यह अनुग्रह, कृपा, पुष्टि साधन नहीं है साध्यरूप है, इसके द्वारा ही आत्यन्तिक दुःख की निवृत्तिपूर्वक रसस्वरूप भगवत्स्वरूपानन्द का उपभोग होता है।

निष्कर्ष यह कि–'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में ब्रह्म के सत्ता, ज्ञान और आनन्द इन तीन धर्मों का परिकथन है। इसमें केवल कर्मकता सत्तावत् ब्रह्म की ही प्राप्ति कर सकता है। अनधिकारिता के कारण ब्रह्म-प्राप्ति होने पर भी उसे तदीय भावनानुसार ब्रह्म के केवल सत्तांश की ही प्रतीति होती है–अन्य अंशद्वयों का भान उसे नहीं होता, वे तिरोहित रहते हैं। केवल ज्ञानियों को ब्रह्म के केवल ज्ञानांश की ही भावना होती है, उन्हें वही भासित होता है, वे चित् के अतिरिक्त किसी सत् की सत्ता नहीं मानते या उसे हेय समझते हैं। अत. अनधिकारिता के कारण वे चिन्मात्र ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, आनन्दांश की अनुभूति उन्हें तिरोहित रहती है।

ऐसी अवस्था में आनन्दांश ब्रह्म की प्राप्ति के लिये भी कुछ उपाय होना चाहिये, और वह साधन भक्ति के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं रस-आनन्दभावनानुरूपा है। साध्यभक्ति के द्वारा भक्तों को सत्-चित-आनन्द सभी स्वरूपों का साक्षात्कार होता है। वे सर्वभूत०-हितरत होकर सद्रूप में, 'प्रविष्टो जीव – कलया' के रूप से 'चिद्रूप' में और 'अस्यैवानन्दस्य भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' के रूप में आनदांश का, इस प्रकार तीनों को समष्टि रूप में साक्षात्कार और अनुभवगम्य करते हैं।

अतः कर्मसाध्य सत्व-सशुद्धि से जन्य भगवन्माहात्म्य-ज्ञान द्वारा परब्रह्म-सेवनात्मिका भक्ति ही वास्तव में अभ्युदय नि.श्रेयस साधिका है-अतएव परम पुरुषार्थ होने से वही उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और विशिष्ट वेदार्थ रूप है जिसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन 'केन' उपनिषद् की प्रस्तुत टीका में मिलता है।+

विभाग और मन्त्रसंख्या-विश्लेषण—

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में ग्रन्थ-व्याख्यान की एक विशिष्ट शैली है, जिसे

+ प्रस्तुत प्रकाशन-पत्र ७। "अयभाव ."—आदि अश।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य सुबोधिनी दोनों ग्रन्थों में अपनाया है। ग्रन्थादि में उसके अवान्तर विभाग, प्रकरण, मन्त्र अथवा श्लोकादि के सङ्ख्या-सम्बन्ध में अथच पूर्वपक्षोत्तरपक्ष के पूर्ण सोपपत्तिक विषय-विश्लेषण का निर्देश किया जाता है। प्रस्तुत विहगावलोकन से ग्रन्थ का स्वारस्य विज्ञात होता है, जो-अतिशय उपादेय है।

'ईशावास्य' के समान ही 'कनोपनिषद्' के 'मनस्विनी'—टीकाकार ने बडे रोचक ढंग से विभाग और मन्त्र-सङ्ख्या के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया है, जो-अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। वे कहते हैं :—

"वेद-चतुष्टय का विशिष्ट अर्थ सर्वदुःख हर्ता भगवान् श्रीहरि की सेवना ही है। अतः चारों वेदों के प्रतीक स्वरूप 'केन' उपनिषद् में भी चार खण्ड हैं, अथवा-सेवमान जीवों के सेव्य-स्वरूप परमात्मा, पुरुषार्थ चतुष्टय रूप होने से इसमें भी चतुर्वर्ग के प्रतीकरूप चार खण्डों का उपनिवेश किया गया है। किम्वा-भगवत्सेवा-मार्ग में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलात्मक अनुबन्ध चतुष्टय का ही महत्त्व है, अतः एक एक खण्ड के द्वारा प्रत्येक का इसमें निरूपण किया गया है। यह एक गूढ रहस्य है+

प्रस्तुत उपनिषद् में प्रथम खण्डद्वय से प्रमाण, प्रमेयगत असम्भावना और द्वितीय खण्डद्वय में साधन फलगत विपरीत भावना की निवृत्तिकर प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट किया गया है। खण्डशः सङ्क्षिप्त प्रतिपादन इस प्रकार है :—

प्रथम खण्ड :—प्रमाण खण्ड है। इसमें आठ मन्त्र हैं-जिसमें प्रथम मन्त्र प्रश्न और शेष सात प्रतिवचन रूप हैं। ब्रह्म लौकिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्य नहीं है, अलौकिक मन, प्राण, वाक्, चक्षु और श्रोत्र ही तत्कार्य-क्षम हैं-एतावता तादृश अधिकारी ही कृतार्थता को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार प्रमाणरूप इन्द्रियों के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के सम्बन्ध में शिष्य को जो—असम्भावना उदित होती थी, उसका निराकरण किया गया है। सिद्ध किया गया है कि—भक्तिमार्ग में अलौकिक (निर्दुष्ट) इन्द्रियों के द्वारा ही परमानन्द ब्रह्म की अनुभूति होती है, और वे तत्प्रवेश द्वारा ही कार्यसमर्थ

+ प्रस्तुत प्रकाशन, पत्र ४ कारिका ७, ८.

बनती है अन्यथा नहीं। इस प्रकार निर्दोष प्रमाणों के द्वारा भी भक्ति-ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता स्थापित होती है-यह सिद्ध किया गया है+

द्वितीय खण्ड —प्रमेय खण्ड है, जिसमें यह प्रतिपादित है कि-प्रमाण-गत- दोषों के अभाव होने पर भी विषय-प्रमेयगत दोषों के कारण शिष्य को पुनरपि ब्रह्म-प्राप्ति में असंभावना हो सकती है। अत. प्रमेय में संभाव्य दोषों का निराकरण भी अपेक्षित हो जाता है। प्रमेयगत दोष पाच प्रकार के हो सकते हैं :—(१) अल्पत्व, (२) विस्मय का अभाव, (३) अमुक प्रकार का नियम, (४) परतन्त्रता, एवं (५) अनुत्कर्ष।

ब्रह्मस्वरूप प्रमेय-विषय-में इन पाचों दोषों की संभावना नहीं है, कारण कि-इन पांचों के विरोधी (१) भूमत्व, (२) अद्भुतत्व (३) प्रकार की अनियतता (४) स्वतन्त्रता तथा (५) सर्वोत्कृष्टत्व यह पाच धर्म ब्रह्म में नियत विद्यमान हैं।∸

इसे इस प्रकार समझिये —

यदि प्रमेय ब्रह्म में ' भूमत्व ' (बृहत्त्व) न होकर ' अल्पत्व ' होगा तो उसमें क्षुद्रता के कारण किसकी भी प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि प्रमेय ब्रह्म में अद्भुतता (विलक्षणता) न होकर अन्य वस्तुओं की समानता होगी तो उसके प्रति किसी के आकर्षण की सभावना ही नहीं हो सकती। यदि उसके प्राप्त्यर्थ अमुक प्रकार की नियतता मानी जायगी तो वह ' इदमित्य ' सिद्ध हो सकता है। यदि प्रमेय स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र होगा-तो तत्प्राप्ति अकिंचित्कर ही है ? इसी प्रकार यदि प्रमेय ब्रह्म उत्कृष्टता से रहित होकर सर्वसाधारण होगा तो तदर्थ प्रयत्न ही कौन करेगा ? ऐसी अवस्था में प्रमेय ब्रह्म की वास्तविक विशेषताओं के प्रतिपादन द्वारा सभाव्य दोषों का निराकरण होना चाहिये।

अतः द्वि० खण्ड के पाच मन्त्रों द्वारा उक्त पांच गुणों के प्रतिपादन से पंचविध दोषों की संभावना की निवृत्ति की गई है।×

+ प्रस्तुत प्रकाशन (पत्र २२ कारिका १२-१५)

∸ प्रस्तुत प्रकाशन (पत्र २३ कारिका-१६-१८)

× प्रस्तुत प्रकाशन (पत्र २३ कारिका १६-१८)

तृतीय खण्ड .--साधन खण्ड है। इस में १२ मन्त्रों से विषय का प्रतिपादन है। गत द्वि० खण्ड में प्रमेय गत पाच धर्मों की सिद्धि द्वारा यह कहा गया है कि--उसमें सभाव्य पाच दोष ऐसे नहीं है जिन से प्रमेय विषयक किसी असमावना का उदय हो सके। प्रमेयगत दोषसिद्धि के कारण तत्सम्बन्ध से बुद्धि में भी दोष का उदय हो सकता है, और ऐसा होने से समस्त कर्तव्य नि सार हो सकते हैं। अत गत द्वि० खण्ड में प्रमेयगत सभाव्य दोषों का निराकरण करते हुए यहांतक प्रमाण-प्रमेयगत असम भावना को दूर किया गया है।

अब रह जाती है-विपरीत भावना। अन्यथाख्याति पक्ष को स्वीकार करने पर प्रमेय ब्रह्म में दोषों के सम्बन्ध से विपरीत भावना का उदय हो सकता है जिससे बुद्धि भी विपरीत भावनाविष्ट होकर वास्तव वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकती। एतावता साधनों की दृष्टि से भक्ति का महत्व भी निष्पक्ष नहीं हो सकता, जो आवश्यक है। इसलिये साधन-फलगत विपरीत भावना की निवृत्ति तृ० और च० खण्ड में की जाती है।

भक्तिमार्गीय सिद्धान्त में अन्यख्याति को अंगीकार किया जाता है। ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट है, अत उसके उत्कृष्ट धर्म तत्सम्पर्क-विना अन्य में नहीं आ सकते। उसके धर्म ही सर्वत्र भासित होते हैं:—यह साधारणतया अन्यख्याति का रूप है। सर्वथा निर्दोष होने के कारण ब्रह्म में दोषों का अल्प आरोप भी नहीं हो सकता। सांसारिक दशा में जीव स्वभाव के वश दुष्ट हो जाते हैं उनके दोषों की निवृत्ति निर्दोष पूर्णगुणविग्रह भगवान् के निर्दुष्ट साधनों से ही हो सकती है—और तभी जीव स्वरूपावस्थित-कृतार्थ-होता है।

समस्त देवों में ब्रह्म – जिज्ञासा की ओर प्रवृत्ति होने के कारण अग्नि वायु और इन्द्र को ही मुख्य माना गया है। इस खण्ड में तीनों के उपाख्यान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि --इनमें जो श्रेष्ठत्व धर्म आया है, इनको जो जय और महिमा प्राप्त हुई है, वह ब्रह्मगत धर्म है और भक्ति के आश्रयण से ही आविर्भूत हुआ है। ब्रह्म ही जब कृपा द्वारा आविर्भूत होकर अपने धर्मों का सस्थापन करता है, तभी जीव दिव्य धर्मों से विभूषित होता है। और जहा वह स्वधर्मों का तिरोधान कर लेता है वहा

वह अकिंचित्कर-निर्वीर्य-हो जाता है। तो-जहां देवोत्तम उक्त देवों की यह परिस्थिति है तो अन्य साधारण जीवों के लिये क्या कहा जाय ? इसीलिये प्रस्तुत-अग्नि, वायु के तृण को जलाने उड़ाने और इन्द्र के सम्मुख यक्ष के तिरोहित हो जाने के- प्रसंग को उदाहृत किया है।

भक्ति में सब से बृहत् दोष अभिमान है-जो आसुर लक्षण है। वह जब तक रहता है-'स्व' में सर्वोत्कृष्टत्व की भावना बनी रहती है, अन्य-कृत महत्त्व को भी जीव स्वकृत मानता रहता है। उक्त देवों ने भी असुर-पराजय को स्वकृत माना- और वे 'अस्माकमेव विजयः' 'अस्माकमेव महिमा' के अभिमान से अभिभूत हो गये। परन्तु यक्षरूप पूज्य ब्रह्म ने प्रकट होकर उनके इस गर्व को धूलिसात् कर दिया-जिससे वे अनुतापित होकर अन्त में दीन बन गए। उन्हें अपने असामर्थ्य का परिचय हो गया।

प्रस्तुत भक्ति-दोष अभिमान की निवृत्ति अस्वातन्त्र्य-दैन्य भावना-के उदय से ही हो सकती है।

यह अस्वातन्त्र्य-(दैन्य) स्त्री के उदाहरण में ही मिलता है। 'स्त्रीभावो गूढ. पुष्टिमार्गे तत्त्वम्' (सुबोधिनी दशम पू०) इस वाक्य में जिस 'स्त्रीभाव' का उल्लेख है-वह एक प्रकार से दैन्य ही है-और वही पुष्टि-अनुग्रह प्राप्ति के मार्ग में तत्त्वरूप है। स्त्रीगत- हार्दिक (आध्यात्मिक) भाव- दैन्य, कोमलता, प्रवणता, दयालुता, नातिमानिता आर्जव, क्षमा आदि की अधिक अवस्थिति जिन जीवों में होती है-और जिनमें प्रिय-प्राप्ति के प्रति नि.सा-धनतानुभूति की पराकाष्ठा होती है, वे ही जीव 'स्त्रीजीव' कहे जाते हैं, क्योंकि जीव में कोई देहगत लिङ्ग-भेद नहीं है।

ऐसे जीवों पर ही भगवान् की कृपा स्वाभाविकतया होती है,जिसे 'स्त्रीपु अत्यन्तं कृपावान्' (सुबो. भ्रमर. ४४ अ) द्वारा कहा गया हैं। उक्त देवों को यह निरभिमानिता स्त्रीरूपिणी बहु शोभमाना उमा के द्वारा अधिगत हुई, अतः उसके प्रादुर्भाव और कृपोपदेश से उन्हें वास्तविक उपास्य का परिज्ञान हुआ, वे वास्तव ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हो सके।

इस प्रकार तृ. खण्ड का यह रहस्य है। इसमें १२ मन्त्र हैं। प्रथम में देवों की बहिर्मुखता का 'अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं

महिमा' के रूप में कथन है। प्रस्तुत मिथ्या ज्ञान से-असुरों के समान देवों का भी पराभव हो जायगा, यह सोचकर अनुग्रह करने के लिये विलक्षण महनीय (यक्ष) रूप में ब्रह्म ने अपना प्राकट्य किया जिसे कोई समझ न सका। यह द्वितीय मन्त्र में कहा गया है।

तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ट मन्त्रों में अग्नि से प्रश्नोत्तर और उसके शक्ति-लोप तथा ब्रह्म-सम्बन्धी अविज्ञान का वर्णन है। सप्तम, अष्टम, नवम एवं दशम में इसी प्रकार वायु का उल्लेख है। एकादश-में इन्द्र के सन्मुख तो ऐसा प्रसंग भी नहीं आया, और ब्रह्म तिरोहित हो गया-इस प्रकार वर्णित है। अन्तिम द्वादश मन्त्र में विद्यारूपिणी उमा के साक्षात्कार और उससे संप्रश्न का वर्णन है-जो अग्रिम खण्ड की भूमिका है।

इस स्थान पर अन्यों की अपेक्षा 'मनस्विनी कार' ने ही 'अयमग्नि-सन्धिरत्र' (पत्र ४१) - कह कर विद्या के पाँचों पर्वों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने आकाशाधिष्ठान की निर्लेपता से वैराग्य, 'बहुशोभमाना' शब्द से सांख्य, 'उमा शब्द से योग, हैमवती से तप और 'स्त्री' विशेषण से भक्ति को सिद्ध कर एक मौलिक सङ्केत दिया है। जो द्रष्टव्य है।

यहाँ प्रसग में काल–कर्म–स्वभाव-कृत दोषों के अभाव का दिग्दर्शन है। अग्नि में कर्मकृत, वायु में स्वभावकृत और इन्द्र में कालकृत दोष है। इन सब दोषों का अभाव अनुग्रहात्मिका परमविद्यारूप भगवती उमा द्वारा सम्पन्न हुआ है, और उनका प्रादुर्भाव दैन्य–भक्ति की प्रतिष्ठा से। भक्ति- पुष्टि–सिद्धान्त की दृष्टि में सुखपुरुषार्थ क सिद्धयर्थ जीव में पारतन्त्र्य–दैन्य (अभिमानाभाव) का होना अनिवार्य है। इस पारतन्त्र्य से ही उसे ब्रह्मधर्म स्वातन्त्र्य की समुपलब्धि होती है–जिससे वह यथेच्छ परब्रह्म के स्वरूपानन्द का उपभोग करता है।

इस प्रकार पारतन्त्र्य हो चाहे स्वातन्त्र्य, भक्ति में ब्रह्म के ही गुण और ब्रह्मदत्त ही साधन हैं, कहने में असमंजस-सा प्रतीत होता है पर यही ब्रह्म की विलक्षणता-अद्भुतकर्मता है। वह जब जीव में कालकर्मस्वभावजन्य दोषों का अवलोकन करता है–दैन्याविष्करण द्वारा उसे पारतन्त्र्य प्रदान कर स्वरूपज्ञान कराता है, और जब जीव परतन्त्र (ब्रह्म–तन्त्र) हो जाता है तब स्वरूपानन्द देने में ब्रह्म स्वयं परतन्त्र (भोग्य) बन कर उसे स्वतन्त्र

(भोक्ता) बना देता है। 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता०' इत्यादि श्रुति का यही रहस्य है। सर्वविध अत्ता (भोक्ता) होने कारण वह स्वतन्त्र भी है, और रसरूप (भोग्य) होने के कारण परतन्त्र भी। यही दोनों भाव जीव में उसकी इच्छा, कृपा, दान आदि से प्रपत्ति में प्राप्त होते हैं। अतएव ब्रह्म जीवगत दोषरूप, स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य की निवृत्ति कर स्वधर्मरूप स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य को स्वयं प्रदान करता है। यह सब ज्ञान गुरु-शिक्षा से होता है जिसे- मूर्तिमान् उदाहरण रूप से प्रस्तुत खण्ड में दर्शाया है।

इस प्रकार साधन में आनेवाली विपरीत भावना (अन्यथा ख्याति) के निराकरण द्वारा १२ मंत्रों से साधन रूप में भी भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

चतुर्थ खण्ड :-फल खण्ड है। जिसमें ६ मन्त्रों से फलगत दोषों के निराकरण द्वारा 'वेदान्त' शब्दवाच्य भक्ति का उत्कर्ष सिद्ध किया गया है।

तृतीय खण्ड में कहा गया है कि-गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान ही फला-धायक है, तद्बिना स्वाभीष्ट-सिद्धि में विफलता ही अधिगत होती है।

छै प्रकार के दोषों की आशंका से ब्रह्मरूप फल के प्रति जीवबुद्धि में विपरीत भावना उदित हो सकती है-जिसका निराकरण भी अभीष्ट है। वे दोष इस प्रकार हैं :—

(१) गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त न होना। (२) असन्निधि (फल का समीप न होना)। (३) प्रयास (कष्ट) से फल की लभ्यता (४) निर्वृति (सुख) की अनुत्पत्ति (५) स्वीय-अप्रणयता (तन्मयता का अभाव) और (६) सर्व-सौहार्द -प्रियता का अनुद्भव।

इन छै दोषों के स्थान पर (१ से लेकर ६ मंत्रों तक) ब्रह्मरूप फल में छै गुणों का निर्वचन किया गया है।

(१) गुरुमुख से ज्ञान —जो-' सा ब्रह्मेति होवाच ' से कहा गया है, और जिसकी सफलता ' ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ' से परिदर्शित है।

(२) सन्निधि —(फल-सामीप्य) जो—' ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशु ' से लक्षित है, और ' स ह्येनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ' द्वारा सफलता रूप में उट्टङ्कित है।

(३) सुखलभ्यता- जो ' सद्येन नेदिष्ठं पस्पर्श. ' से व्यक्त होती है, और ' प्रथमो विदाचकार ' से सफल बताई गई है ।

(५) निर्वृति (सुख) की उत्पत्ति –जो ' तस्यैष आदेशो यदेतत् ' इत्यादि से प्रकट और ' व्यद्युतदा ' आदि से प्रतिफलित है ।

(५) स्वकीय प्रवणता- जो 'अथाध्यात्म यदेतद् गच्छति' इत्यादि से अभिहित और ' उपस्मरत्यभीक्ष्ण सकल्प. ' के रूप में सफल कही गई है ।

(६) सर्वसौहार्द–प्रियता— की समुद्भूति- जो ' सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ' के द्वारा कथित है–और ' तद्ध तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्यं ' के द्वारा भजनीयता फल–रूप में निर्दिष्ट है ।

(७) सप्तम मन्त्र के द्वारा- ' उपनिषदं भो ब्रूहि ' की उपक्रमता से एव 'वाव त उपनिषदमब्रूमेति ' इस उपसंहार से सन्दर्भ शुद्ध्यर्थ एकार्थ का कथन किया गया है ।

(८) अष्टम मन्त्र में—सारांशत: ' तस्यै तपो दम ' इत्यादि के द्वारा भक्ति के साधनों का उल्लेख है ।

(९) नवम मन्त्र द्वारा ' अपहत्य पाप्मान अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ' कह कर फल का उल्लेख किया गया है ।

एतावता प्रस्तुत खण्ड में चार प्रकरण हैं –(१) फलगत दोष निवारण (१ से ६ मन्त्र) (२) उपक्रमोपसहार वर्णन (७ वां मन्त्र) (३) भक्तिप्राप्ति के साधन (८ वां मन्त्र) और (४) फलनिर्देश (९ वां मन्त्र)

इस प्रकार भक्तिद्वारा वननीय–भजनीय ब्रह्म के अर्थ उमा (गुरु) कृत उपदेश से देवों को ब्रह्म का (तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि) परिज्ञान हुआ, जो फलरूप से इस खण्ड में कहा गया है ।

प्रस्तुत फलप्राप्ति के लिये अवान्तर साधनरूप में ' तपोदम. कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम् ' (८) के द्वारा निर्देश है, और जिसे श्रीमद्वल्लभाचार्य- ' तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मन:' मे सक्षिप्ततया व्यक्त करते है । उपान्त मन्त्र में साधन–निर्देश के

अनन्तर अन्तिम मन्त्र में फल की ओर इङ्गित कर कहा गया है .–
' यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानं अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ।'

सारांश (ज्ञान और भक्ति) :—

इस 'केन' उपनिषद् में यक्ष (पूजनीय) ब्रह्म-वर्णन के द्वारा ज्ञानक्रिया दोनों शक्तियों से विशिष्ट परब्रह्म के दिव्य स्वरूप का जहां वर्णन है, वहां उस के अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्व एव अलौकिक माहात्म्य का प्रतिपादन भी है। प्रश्नोत्तर रूप में जिज्ञासा एव समाधान है तो आख्यायिका द्वारा उसका पुष्टीकरण भी। जहां जीवकृत साधनों की ब्रह्मप्राप्ति में अकिंचित्करता का उल्लेख है तो वहां भगवत्कृत साक्षात् अनुग्रह द्वारा पुरुषार्थ-सिद्धि के अभ्युपाय का दिग्दर्शन भी है।

उपास्य की उपासनार्थ उपासक को उद्बोधन देने के लिये एक नियोजक की उपस्थिति का अनुभव वैदिक पद्धति का सनातन प्रथम चरण है। 'अद्रेश्य, अग्राह्य, अवर्ण्य, अनिरुक्त परब्रह्म को इदमित्थतया ज्ञात कर लेना जीव के सामर्थ्य के बहार है। पर उस की ओर प्रवृत्ति करना भी तो निश्चित पुरुषार्थ माना गया है, तदर्थ किसी अभ्युपाय का निर्देश होना ही चाहिये —

ज्ञान की एक क्रमकोटि है। गीतानुसार प्रकृति दो प्रकार की है अपरा और परा। अपरा प्रकृति अष्टधा है, 'जो भूमिरापोनलो वायु' आदि द्वारा (गीता ७-४) कही गई है। परा प्रकृति जीवभूत है (गीता ७-५) जिसके द्वारा जगत् धारण किया जाता है। इसे क्षर और अक्षर रूप में भी कहा जाता है। एतावता (१) सत्-ज्ञान (क्षर-ज्ञान) (२) चित्-ज्ञान (जीवात्म ज्ञान) (३) ब्रह्म-ज्ञान (अक्षर ब्रह्मात्म-ज्ञान) आवश्यक होता है। क्षर एवं अक्षर से आगे (अतीत) एक पुरुषोत्तम है, जिसे परब्रह्म कहा जाता है। इस का ज्ञान (४) परब्रह्म-ज्ञान है।

इस क्रम में उत्तरोत्तर तप आदि साधनानुष्ठान के द्वारा साधक ब्रह्मज्ञान की सीमा तक पहुंच सकता है, जो ज्ञानियों के लिए अन्तिम लक्ष्य है। 'इदं ब्रह्म, अहं ब्रह्म, ब्रह्मेदं आदि सखण्ड ज्ञान के अनन्तर 'सर्वं ब्रह्मैव' इस प्रकार का अखण्डाद्वैत का भान होना ही वास्तव में परब्रह्म ज्ञान—पुरुषोत्तम-ज्ञान है।

'इदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि वाक्यों से क्रमश इसी निगूढार्थ की अभिव्यक्ति करती हुई श्रुतियां जब अन्ततो गत्वा परब्रह्म-ज्ञान के लिए नेतिनेति' पुकार उठती हैं। उस समय जब ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय की परिसमाप्ति हो जाती है-तब परब्रह्म की ग्राह्यता के लिये भक्ति का ही अवसर आता है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" आदि वचन तब चरितार्थ होते हैं। "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति." आदि जैसे श्रुति-स्मृति-वाक्य सत्य ही दुःखों के अभाव-मुक्ति का प्रतिपादन करने से निरर्थक नहीं होते। एतावता ज्ञान से ब्रह्मज्ञान तक तो संभव है, प। परब्रह्म-ज्ञान नहीं, वह तो भक्ति से ही हो सकता है। भक्ति से परब्रह्म ग्राह्य भी हो सकता है, जो उस की इच्छापर ही निर्भर है। अनेक प्रमाण इसके लिये दिये जा सकते हैं।

इधर "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" आदि वाक्य जब इस परब्रह्म की ज्ञान से अप्राप्यता के विरुद्ध एक आभास उपस्थित करते हैं-तब 'स्वयमेवात्मनात्मान वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम!' इस समाधान द्वारा श्रीहरि के ज्ञानावतार गुरु की प्रतिष्ठा स्वीकार करनी पड़ती है, उनके बिना ज्ञानप्राप्ति असंभव हो जाती है। फिर यह ज्ञान चाहे आत्मज्ञान हो? ब्रह्मज्ञान हो? या परब्रह्म विषयक ज्ञान हो? साध्य और साधक के मध्य में सदुपदेष्टा सद्‌गुरु के उपदेशरूप साधन के अतिरिक्त और कौन सी कड़ी हो सकती है? "प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ!" यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्था" आदि श्रुतिवचन और 'प्लवं' सुकल्पं गुरुकर्णधारं" "व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरण" यद्वासुदेव शरणा विदुरञ्जसैव" आदि पौराणिक वचन उक्त कथन को बल देते हैं। इसी दृष्टि से जब पूर्ण पुरुषोत्तम के कृपाफलित यत्किञ्चित् ज्ञान के लिये गुरु की आवश्यकता प्रतीत होती है, तब प्रस्तुत 'केनोपनिषद्' में इन्द्रशिष्य के सन्मुख गुरुरूप बहुशोभमाना हैमवती उमा का साक्षात् होता है।

इस प्रकार लौकिक प्रमाणरूप इन्द्रियां जब कुण्ठित हो जाने पर गुरु की कृपा से अलौकिक धर्मों से अधिष्ठित होकर परब्रह्म को बोधगम्य-ग्राह्य-करने में सक्षम हो जाती हैं, तब अधिकारी साधक जीव अपनी साधनत्व-बुद्धि हटा लेता है और नि.साधनता रूप भगवदनुग्रह से फलात्मक परमानन्द-

रस का उपभोग करने लगता है। यही 'केन' के चारों खण्डों का आन्तरिक संक्षिप्त रहस्य है।

पाठ-भेद :-

'केनोपनिषद्' के मन्त्रों का अन्य व्याख्याओं से पाठ-सम्वाद करने पर क्वचित पाठ-भेद भी प्राप्त होता है जो इस प्रकार है :—

(क) द्वि. खं प्रथम मन्त्र में मनस्विनीकार ने 'दहर' के स्थान पर 'दभ्र' पद की व्याख्या की है।

(ख) तृ. ख. तृतीय मन्त्र में 'किमेतद् यक्ष' ऐसा पाठ है जो शांकरभाष्य से मिलता है पर पं गोकुलदासजी ने स्वकीय भाष्य में 'किमिदं यक्षं' ऐसी व्याख्या की है।

(ग) च. खं. चतुर्थ मन्त्र में मनस्विनीकार ने 'इति न्यमीमिषदा' इस पद की व्याख्या की है, तो अन्य भाष्यों में 'इतीन् न्यमीमिषदा' स्वीकार किया है।

इन पाठ-भेदों का स्वारस्य समालोचनात्मक अध्ययन से विदित हो सकता है, जिस पर यहां कुछ कहना 'अस्थाने' होगा।

कुछ विशिष्ट शब्दार्थ :—

यों तो सिद्धान्त-वैलक्षण्य के कारण अन्य भाष्यटीकाओं से 'मनस्विनी कार' का अभिप्राय पृथक् ही है। तथापि इसमें एक विशेषता यह है कि—साधारण प्रसिद्ध शब्दार्थों की व्याख्या के साथ कहीं कहीं प्रकृति प्रत्ययार्थ के सहारे कीन्ही शब्दों के अभिप्राय मूलक अन्य अर्थ भी किये गये हैं। जैसे :—

१ वदन्ति (१ ख. १ म.) कथनीयोऽर्थ उच्यते: वद् इति तस्या अन्ति=समीपे भवति। इत्यादि।

२ 'इदम्' (१ खं. ४ मन्त्र) 'इन्कामान्द्यति (खण्डयति इति—इदम्। आप्तकामता-सम्पादकमपीत्यपि भवति' (तथा ७ मन्त्र)

३ 'वीर्यम्' (२ ख ७ मं.) विशेषण ईरयति क्षिपति सर्वास्तुच्छतया तद्वीरम्–तस्मिन् साधु तद् वीर्यम् ।

४ 'विद्युत (४ खं. ४ मं) विशेषेण द्योतते–इति विद्युत. = आनन्द । .इति श्रुतौ य आनन्दात्मक आत्मा सोऽय विद्युत. । (आदि)

निदर्शन रूप से उदाहृत शब्दों की विशेष व्याख्या का स्वारस्य पूर्वानुसन्धान से अवगत हो सकता है-जो व्याख्या के अध्ययन से ही सभव है। यहां तो उसका स्थालीपुलाक न्याय से दिग्दर्शन कराया गया है।

जैसा कि—प्रथम प्रतिपादित किया गया है, प्रस्तुत ग्रथ उक्त प्रकार से विषय–वर्गीकरण एव मन्त्र–संख्याओं द्वारा व्याख्यान–पद्धति द्वारा अपना एक मौलिक स्थान रखता है। यह सत्य भी तो है कि—मन्त्रों का प्रतिकथन किसी एक गभीर पूर्वापर अर्थानुसधान को लेकर ही होता है, वह अनर्गल अथवा आपातत रम्य नहीं है।

'केनोपनिषद्' की अन्य प्रकाशित भाष्यटीकाओं में इस प्रकार का विवेचन प्राप्त नहीं होता। केवल श्रीशंकरकृत 'वाक्यभाष्य' में केवल मात्र एक स्थान पर 'केनोपनिषद् भाष्ये क्षुद्रगण वाक्य–विवरण समाप्त' ' कहकर ही सतोष किया गया है, विशेष विश्लेषण द्वारा गभीरार्थ का प्रस्फोट वहां भी नहीं हुआ है।

यह कहने में एक विशेष गौरवानुभूति होती है कि—'केनोपनिषद्' के हार्दिक अभिप्राय को 'मनस्विनी' व्याख्याकार ने महनीय प्रणाली से व्यक्त किया है।

'मनस्विनी' की रचना :—

यद्यपि 'केनोपनिषद्' पर अन्य अद्वैतवादी आचार्य और विद्वानों की रचित टीका, भाष्य उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं तथापि आज से ६०–७० वर्ष पूर्व शुद्धाद्वैत–सिद्धान्त की व्यापिका कोई व्याख्या नहीं थी। जैसा कि 'ईशावास्य–मनस्विनी' व्याख्या के प्रकाशन में मैंने लिखा था– 'ईश' और 'केन' इन दोनों उपनिषदों पर पूज्यपितृचरण ने भारतमार्तण्ड पं श्री गट्टूलालजी के युग (सं १९५० के लगभग) में ही इस व्याख्या

की रचना करली थी, पर उसके लगभग २५ वर्ष बाद नाथद्वारा में स्थायी निवास करने पर उन्होने इसे पुनः संशोधित किया था। पितृचरणने इस समय अपने व्यापक परिपुष्ट ज्ञान, अनुभव एवं समीक्षा से उसे अधिक परिमार्जित विशद और अलंकृत कर एक अभाव की पूर्ति की।

प्रस्तुत प्रकाशन के प्रारंभ हो जाने तक शु साम्प्रदायिक किसी अन्य 'केनोपनिषद्'-टीका की मुझे कल्पना भी नहीं थी—यह एक आश्चर्य है जो सकारण है*। एक दिन सहसा उमरेठ में आदरणीय आचार्य विद्यानिधि गो. श्री १०८ श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत) के समक्ष जब ग्रन्थप्रकाशन की बात चल रही थी, उन के पौत्र होनहार विद्वान् मधुरसौम्यकृति चि श्रीमथुरेशजी के द्वारा श्रीगोकुलदासजी शास्त्रि-कृत मुद्रित केनोपनिषद्-भाष्य के दर्शन हुए, पर क्षिप्रता-वश 'मनस्विनी' टीका के साथ उसका सम्वाद नहीं किया जा सका। तब यह जटिल समस्या उपस्थित हो गई कि-दोनों टीकाएँ एक ही तो नहीं हैं? नामान्तर से वे दोनों पुनः मुद्रित तो नहीं हो रहीं है? एक ही नगर-कोटा, एकही आश्रयस्थान श्रीमथुरेशमदिर-और एक ही युग (१९५०-७०) में अतिशय सन्निकट (गुरुशिष्य-सम्बन्ध)× वर्तमान दो विद्वानों का एक ही दिशा में प्रच्छन्न प्रयास?

इस 'किं कर्तव्यविमूढ' बना देनेवाली समस्या की पूर्ति तब हुई, जब कई स्थानों से हताश हो जाने पर स्व मित्रवर श्रीलक्ष्मणशास्त्रीजी (कोटा) ने मुखियाजी श्रीगोकुलदासजी-कृत भाष्य की मुद्रित दो प्रतियां भेज कर मुझे स्थितप्रज्ञ बनाया। दोनों व्याख्याओं का सम्वाद करने पर मुझे जो आनन्द हुआ वह अकथनीय था। दोनों मौलिक व्याख्याएँ थी।

---

* शु. सम्प्रदाय के ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ द्रव्य-साहाय्य देनेवाले अधिकांश दानवीर सेठ मुद्रित पुस्तकों का एक बड़ा जत्था अपने हस्तगत कर लेते हैं। जो-या तो अनधिकारियों के हस्तगत होता है-या योंही कालकवलित हो जाता है। विद्वान् उससे वंचित रह जाते हैं।

× स्व. श्री मुखियाजी श्रद्धेय श्रीबालकृष्ण शास्त्रीजी में गुरु-भावना रखते थे। मुझे स्मरण है :-जब वे गुरुपूर्णिमा के दिन हम शिष्यवर्गों के साथ गुरुदेव की सविधि अर्चना करते थे।

ऐसा विदित होता है कि-सं. १९७५-८० के लगभग श्रीमुखियाजी ने इस व्याख्या की रचना की होगी। क्यों कि सं १९८१ में साक्षात्कार होनेपर उन्होंने प्रस्तुत टीका के कुछ अंश सुनाकर सतीर्थता के व्यवहार से मुझे पावित किया था ।

ऐतिहासिक स्मरण में-श्रीद्वारकाधीश के मुख्य सेवक पं श्रीनिर्भयरामजी के बाद श्रीमथुरेशजी के मुख्य सेवक प श्रीगोकुलदासजी ही ऐसे विद्वान् थे जो-शु. सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग की 'सेवायां वा कथायां वा' की प्रणाली में कुछ विशिष्ट गोस्वामिप्रवरों को छोड कर अद्वितीय उदाहरण माने जा सकते है ।

ऐसा अनुमान होता है कि–स्वर्गीय श्रीमुखयाजी को पूज्य पितृचरण की 'मनस्विनी' व्याख्या-रचना की जानकारी नहीं थी। अन्यथा वे इस 'केन' को छोड कर किसी अग्रिम उपनिषद् पर व्याख्या लिखते। क्योंकि उस युग में 'काशीस्थ स विश्वविद्यालय' में शुद्धाद्वैत वेदान्त के परीक्ष्य ग्रन्थों की योजना का वातावरण चल रहा था। अस्तु ।

यह सौभाग्य ही है कि–सम्प्रति शु० सम्प्रदाय में 'केन' की निम्न-लिखित दो संस्कृत व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, जो परस्पर पूरक सी हैं —

(१) केनोपनिषद्–मनस्विनी व्याख्या। रचयिता स्व पो श्रीबाल-कृष्ण शास्त्रीजी। रचना एवं सम्पादन – काल सं १९५०–७१ प्रकाशन स. २०१२ (प्रस्तुत प्रकाशन)

(२) केनोपनिषद्–भाष्य। रचयिता स्व. मुखिया श्री गोकुलदासजी शास्त्री। रचनाकाल स १९८० (लगभग)। प्रकाशन सं. २००३। हिन्दी भावानुवाद–सहित। कोटा वि. प्रेस से प्रकाशित।

प्रस्तुत व्याख्यान–द्वय में यह एक अदृष्ट संयोग ही है कि–प्रथम का अनन्तर और द्वितीय का प्रथम प्रकाशन हो सका है।

प्रस्तुत प्रकाशन :–

स्वर्गीय पितृचरण की रचना के सम्बन्ध में कुछ कहना यद्यपि छोटे मुह बडी बात है, तथापि यह व्यक्त करते संकोच नहीं होता कि–भारत मार्तण्ड श्रीगट्टूलालजी के युग (स १९५०) के अनन्तर शु साम्प्रदायिक

वैदुष्याधिष्ठान को साधिकार संभालने वाले विद्वद्गण में उनकी गणना कनिष्ठिकाधिष्ठित नहीं है। यद्यपि तत्कृत रचनाओं में 'ईशावास्योपनिषद्-मनस्विनी' के बाद प्रस्तुत व्याख्या का ही प्रकाशन हो रहा है तथापि स्थालीपुलाक-न्याय' से उन के सार्वभौम पाण्डित्य का परिचय पाया जा सकता है+ पितृचरण-रचित और उनके स्वय हस्तलिखित सर्वविध शुद्धाद्वैत-साहित्य की ४० पञ्जिकाएं मेरे समीप सुरक्षित विद्यमान हैं-जो सब प्रकाशन सापेक्ष हैं —

(१) वेद के कतिपय विष्णु वैश्वानर, पुरुषसूक्तादि सूक्तों के व्याख्यान। (२) गीतार्थ-विचार। (३) ब्रह्मसूत्रार्थ-विचार। (४) भागवतार्थ-विचार। (५) प्रकीर्ण मन्त्र-व्याख्यान। (६) पद्य-संग्रह। (७) श्रीनाथभावोच्चय। (८) गोविंदलाल-कोश। (९) प्रकीर्ण सिद्धान्त विमर्श। (१०) श्रीवल्लभाचार्य-स्वरूपदीपिका। आदि।

सत्यसंकल्प श्रीहरि के अनुग्रह से गत वर्ष पितृचरण-रचित ईशावास्योपनिषद् की यशस्विनी 'मनस्विनी' टीका प्रकाशित हुई, जो पूर्वोक्त अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन का प्रथम सोपान था। शु सम्प्रदाय के विद्वद्वरिष्ठ, लब्धप्रतिष्ठ षष्ठपीठाधीश आचार्य गो. श्री १०८ व्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत) द्वारा तत्प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थावलम्बन के श्रीगणेशने अन्यत्र भी प्रोत्साहन को जागृत किया, फलरूप आज 'केनोपनिषद् 'मनस्विनी' टीका प्रकाश में आ रही है। जिसके प्रकाशन का व्यय प्रदान कर शु सं के तृ पीठाधीश गो. श्री १०८ व्रजभूषणलालजी महाराज ने इस शृंखला में दूसरी कडी जोडने का श्रेय अधिगत किया है।

'केनोपनिषद् मनस्विनी-टीका की एक ही प्रति मेरे समीप विद्यमान है-जो ग्रन्थकार की स्वय हस्तलिखित और संशोधित परिवर्द्धित है। यावद् बुद्धिबलोदय तत्सम्पादन में कई स्थलोंपर सन्देह-निरासार्थ कृतश्रम लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् मित्रवर पं. श्रीबद्रीनाथजी शास्त्री 'विद्यासुधानिधि' (बडोदा) तथा पं. श्रीजगन्नाथ शास्त्रीजी 'शुद्धाद्वैतालंकार' (प्रतापगढ) से सहाय्य लिया गया है। तदर्थ यह सम्पादक उक्त युगल मूर्ति का स्नेह-आभारी है।

+ इनका जीवन परिचय 'ईशावास्यमनस्विनी' टीका में प्रकाशित किया गया है।

सम्पादन में वर्ती गई सावधानी के बाद भी प्रस्तुत वेदान्त जैसे जटिल विषय में अनवधानता-वश कुछ त्रुटिया संभव है–जिन्हें मनीषि–वर्ग क्षमा कर सकता है। 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' उस उक्ति को सन्मुख रखकर भी वर्तमान कालिक परिस्थिति के द्रष्टा हम जैसे भगवदिच्छा से अनभिज्ञ व्यक्तियों को यह कहना ही पड़ता है कि–शु. सम्प्रदाय का अप्रकाशित साहित्य मूल और भाषान्तरों के रूप में जितनी शीघ्रता से प्रकाशित हो जाय उतना ही हम अनुयायियों का कल्याण होगा।

कल्याणकारक श्रीहरि ही–

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम.
नाशयात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'

की उक्ति से हमें प्रेरित करें, और हम अनुकूल समय परिस्थिति एवं साहाय्य की समुपलब्धि से भगवन्नामात्मक साहित्य–सेवा में प्रवृत्त होते रहें। इति शम्।

श्रीबैठकजी मंदिर, बड़ौदा।
प्र. भाद्र. शु. १५,
सं. २०१२

विधेय --
पो. कण्ठमणिशास्त्री
संचालक–विद्याविभाग
कांकरोली–(राजस्थान)



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

" केनोपनिषद् "

पो. श्रीबालकृष्णशास्त्रिविरचित-

" मनस्विनी " व्याख्या-सहिता

प्रथमः खण्डः।

(शान्ति-पाठ)

हरिः ॐ । आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्, प्राणश्चक्षुः, श्रोत्रम्, अथो बलमिन्द्रियाणि सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मौपनिषदं, माहं ब्रह्म निराकुर्याम्, मा मा ब्रह्म निराकरोद, अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणमस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ १ ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(मङ्गलाचरणम्)

श्रीकृष्णं परमानन्दमाचार्यान्वल्लभाभिधान् ।
प्रभुं श्रीविट्ठलं नत्वा गुरुश्चापि कृपानिधिम् ॥ १ ॥

तद्वागमृत-शेषेण लब्धप्रज्ञोऽस्मि मन्दधीः ।
हासाय विदुषां व्याख्यामल्पामुपनिषन्मनः - ॥ २ ॥

विज्ञापयन्तीमुद्धृत्तां संगृह्णामि, बुधैरिह -
धाष्टर्यं मदीयं क्षन्तव्यं, महान्तो हि दयालवः ॥ ३ ॥

(उपक्रम–कारिकाः)

भक्तिर्हि सर्ववेदार्थस्तस्माद्वेदान्त–शब्दभाक् ।
तद्वाचकत्वाद् ग्रन्थोऽपि तन्नाम्ना व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥

ब्रह्मोपकण्ठे जीवस्य नितरां कोश–शीर्णता ॥

ब्रह्मोपकण्ठे नितरां प्रापण वा यया भवेत् ॥
रूपावसादो नितरां समीपे ब्रह्मणो यया[1] ॥ ५ ॥

सा भक्तिरेवोपनिषद् ग्रन्थोप्यत्र तु निर्णयः ॥
भक्त्यैव परमश्रेयो जीवानां नान्यथेति हि ॥ ६ ॥

अस्य जीवस्य निर्गुणब्रह्म–सेवनयैवानायासेन परमपुरुषार्थ-सिद्धिरित्युपनिषत्सिद्धान्तः। स चास्यामुपनिषदि– अन्तिमखण्ड उपपादितो भविष्यति देव–वृत्तान्तेनेति, साऽऽप्या यदि निर्गुणस्य ब्रह्मणः सकलेन्द्रियप्रवृत्ति-विषयत्व स्यात्। नत्वेवम्, तस्य वृत्त्यविषय-त्वस्य शास्त्रे राद्धान्तितत्वात् ।

ननु यर्हि सर्वथाऽविषयत्वं स्याद् ब्रह्मणः, तर्हि प्रमाणावलम्बिनी भक्तिरुच्छिन्ना स्यात् ? तथा च "कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदा-वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्०" "मनसैव तदाप्तव्यम्०" "नेह नानास्ति किञ्चन०" इत्यादीनि श्रुतिवचनानि पीडयेरन्। यद्येते-षां वाधाभूदिति साध्वसम् ? तर्हि – उभयविधवाक्य-सङ्गतये निर्धर्मत्वं सधर्मत्वं च ब्रह्मणि मन्तव्यम् ।

न चैवम्–" निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्० " इति श्रुति–वाधाभयात्। एवञ्च धर्मा ब्रह्मणि न वास्तविकाः

१ पदूल्ट विशरणगत्यवसादनषु. इति प्रसिद्धत्वादर्थत्रयानुसन्धानेनोपनिषच्छब्दा-त्रिविधोऽप्यर्थो ग्रन्थकर्तुरभिमत. ।

'शाखारुन्धती - न्यायेन' शुद्धस्य परिचायन-प्रयोजनकत्वात्, इति वृत्यविषयत्वं, पूर्वाभिः श्रुतिभिश्च वृत्तिविषयत्वञ्च निर्धर्मकस्यैवायाति।

अथवा किन्तु-एतेनाकर्तव्यत्वेन व्यवस्थापितायां भक्तौ ब्रह्मणि कारणानां प्रवृत्तिर्यन्न भवति, तत्कि प्रतिबन्धकम्? तत्र तत्र प्रवृत्यर्थं प्रतिबन्धकोपमर्दन-क्षमं किञ्चिदुत्तेजकं गवेषणीयम, यत्साहाय्येन देवताधिष्ठितानीन्द्रियाणि ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते, यदभावे च न प्रवर्तन्ते। अन्यत्र च प्रवर्त्तन्ते, वक्तव्यमेतत्?

किञ्चेदं स्वाभाविकम् - यदिन्द्रियाणीष्टानिष्टेषु साधारण्येन प्रवर्तन्ते। तत्कोऽत्राभ्युपायो येनेष्टं प्रत्येव तेषां प्रवृत्तिरनिष्टं प्रति च न भवति। तत्र चेदधिष्ठातारं मनुते? तर्हि तस्य स्वातन्त्र्यं व्याख्येयम। अथेन्द्रियाणां भेदो, येनैषा व्यवस्था कल्प्येत? तर्हि प्रमाणं वक्तव्यम्। अथ यदि प्रमाणावलम्बिना निर्गुणमपि ब्रह्म क्रियाज्ञानविषयं मन्येत? तर्हि "यतो वाच०" इति श्रुतिप्रातिकूल्यम। अन्यदीयधर्माणां ब्रह्मणि चेदारोपेण समर्थना? तर्हि तस्यासेव्यता। 'शुक्ति रजत'मिति मत्वा स्वाभीष्ट-सिद्धयर्थमुपयुञ्जानस्य भ्रान्तस्य भवत्यवश्यमुपहास्यता, तद्वदुपहासभयात्तथा ज्ञातव्यम।

इत्येवमसम्भावना-विपरीत-भावनाविष्टमानसः कश्चिदन्तेवासी - आचार्यमुपसन्नः प्रश्नमुखेन निर्गुणब्रह्मणस्तत्त्वं, तत्सेवनातत्त्वञ्च बुभुत्सुराह :—

" केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१॥ "

अत्रायमभिसन्धिः —

ब्रह्म-तत्वज्ञानार्थं सतां सङ्गोऽपेक्ष्यते, यतः शुद्धेन मनसा ब्रह्मामन्त्यं मननद्वारा। मननन्तु बुद्ध्या सर्व-निर्णये सति भवति।

तन्नाशको दुःसङ्गः। तस्य परिहारः सतां सङ्गेनैव। तत्रावश्यं कर्तव्ये सम्बन्धित्वेन व्यपदिष्टाः सन्त आचार्या एव। तेषु श्रोत्रियतया ब्रह्मनिष्ठतया च सत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ"मिति श्रुतिराह। तेषामुपसत्तिः पूर्वं कर्तव्या, तदसिद्धौ प्रतिबन्धकानि त्रीणि भवन्तिः—अनृजुता, असूयकता, अयतता च। अत्रानृजुता–बाधो गुरुषु प्रणिपातेन भवति, असूयकता–बाधस्तत्सेवया, अयतता–बाधश्च तान्प्रति प्रश्नेनेति।

तत्राप्येतद्दीर्घकालादरनैरन्तर्येणावर्तनीयमिति– सम्प्रदायं प्रवर्तयितुं परिप्रश्नेनैव शास्त्र-प्रवृत्तिरुच्यते।

अत्रागमो भवति —

"न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः, अनन्यप्रोक्ते गतिरत्रनास्ति०" "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ०" "आतृणत्त्यवितथेन कर्णौ०" "अदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्०" "तन्मन्ये पितरं मातरञ्च०" "तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह०" इति। "आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्, न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत सर्वदेवमयो हि सः"

इति च स्मृतिः।

अथ व्याख्यास्यमानाया उपनिषद इयं प्राथमिकी पद–सन्ततिर्भवति–' केनेषित 'मित्यादि —

एवमत्र श्लोका भवन्ति :—

चतुर्णामपि वेदानां विशिष्टोऽर्थो हरेर्भजिः।
सोऽथवा सेवमानानां चतुर्वर्गात्मको मतः ॥ ७ ॥

अथवा सेवना–मार्गे मानमेये च साधनम्।
फलं, बिना नात्मनास्ति – इति खण्डचतुष्टम् ॥ ८ ॥

विभक्तमत्र शास्त्रे हि गूढभावसमन्विते ।
काण्डद्वयात्मका वेदा अष्टाधा ते त्विहागताः — ॥ ९ ॥
प्रमाणभावं सर्वेषामुपजीव्यतयोत्तमम् ।
बाह्यमाभ्यन्तरीयश्चेत्येवमष्टविधं, यतः — ॥१०॥
अलौकिकेन्द्रियं ब्रह्म, प्रमाणं त्वाद्यखण्डके ।
अतोऽष्टौ प्रकृता मन्त्रास्सर्वसन्देह–वारकाः ।
प्रश्न आद्येन पद्येन, प्रतिवाक्यं तु सप्तभिः ॥११॥

परिप्रश्नफलस्योपदेशस्योपजीव्ये प्रणिपातः, सेवा चेति । ते अत्राक्षिप्ते भवतः । प्रयोजकप्रश्नेनोच्छृङ्खलं स्वातन्त्र्यं शुश्रूषुराह-भक्त्या प्रसन्नं ब्रह्म मर्यादां न सहते इति– (मनः) उच्छृङ्खलं भवतीति ' केनेषितं पतति प्रेषितं मन ' इति (प्रश्नः)

अयं भाव. —

' मानाधीना हि मेयस्य सिद्धि 'रिति प्रत्यक्षमेव प्रमाणं सर्वोपजीव्यत्वात् । तस्याप्युपजीव्यं मन – इति प्रश्ने (मनः) पूर्वं मुपक्षिप्यते । तथा " मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो· " इति बन्धमोक्ष–कारणपि भवति । तथाह्यागमः—

" यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः " । तथा–" यस्तु विज्ञान वान्भवति युक्तेन मनसा सदा, तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः " इति ।

तस्य प्राणाधीनत्वान्न स्वातन्त्र्यम् ।
अत्रागमो भवति· —

" अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथा सुहयः पड्वीश–शङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं ह्राभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमी "रिति ।

मनोवागादिपूभयत्र प्राण–सम्बन्ध इति वागादिभ्य' पूर्वमुक्तो मनसोऽनन्तरं ' मध्यमणि–न्यायेन '।

तथा सर्वस्य व्यवहारस्य वागधीनत्वम् । वाचोक्तस्य पूर्वं दर्शनेच्छाऽथ च श्रवणेच्छा भवति, (इति) चक्षु'श्रोत्राभ्यां पूर्वा वागुक्ता । तदत्र निगमः—

" यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्य नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयती "ति ।

तथा – वाचोक्तस्यार्थस्य सत्यत्वज्ञाने प्रथमं साधनं चक्षुरेवेति श्रोत्रात्पूर्वं चक्षुरुक्तम् । " चक्षुषा वै पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्य भवति '। इति तत्र निगमो भवति—

तथा चक्षुषाऽदर्शनेनासन्तोषे श्रुत्वा सन्तोषं जनयति, इति चक्षुषोऽनन्तरं श्रोत्रमिति, मनो हि न स्वतन्त्रं करणत्वात्, छेदनार्थ वाशीवत् । प्रग्रहत्वेन निरूपणाच्च । " बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मन' प्रग्रहमेव चे "त्यागमो भवति । यत सर्वाणीन्द्रियाणि मनस्यायत्तानि यथा, तथा मनोऽपि कस्मिश्चिदधिभवितुमर्हति ।

ननु प्राणाधीनत्व, बुद्ध्यधीनत्वं, वात्माधीनत्वमास्तामिति चेन्न–अत्रैव प्राणस्यापि मनोवत्पारतन्त्र्य–विचारणया तत्प्रेरकस्य पृच्छा–विषयत्वेन प्रेर्यत्वात् । नहि भिक्षुके भिक्षुकान्तरस्याधिपत्यं संभवदुक्तिकम् । नापि बुद्ध्यधीनत्वम् –" आत्मान रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु, बुद्धिं तु सारथिं विद्धि० " इति श्रुतौ बुद्धेरात्माधीनत्वेन प्रतिपादितन्यायेन समाधेः कर्तुं शक्यत्वात् । नाप्यात्माधीनत्वम् :– तस्यापि परन्त्रत्वादन्यथा स्वर्गनरक–भोगोऽस्य न भवेत । " आत्माप्यनीशः सुखदु.ख – हेतो "रिति हि श्रुतिः । तस्मात्सिद्धमेतत् :—' केनेषितं पतति प्रेषितं मन ' इति ।

अयं भावः —

"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुतौ सत्ताज्ञानानन्दरूपा स्त्रयो धर्मा अभिहिताः, तत्र कर्मकर्तृभिः सत्तावदेव ब्रह्म प्राप्यम। प्राप्ते ब्रह्मणि तेषां भावनावशात्सत्तांश एव भासतेऽनधिकारित्वात्, अन्यद् द्वयं न भासते। तथा ज्ञानिनामपि तत्र ज्ञानांश एव भासते, आनन्दांशो न भासतेऽनधिकारित्वादेवेति-तैश्चिन्मात्रं ब्रह्म प्राप्यम। तत्र यथा सत्ताचिन्मात्रयोः प्राप्तौ कर्मज्ञाने — अङ्गे, तथानन्दमात्रस्य ब्रह्मणः प्राप्तौ केनचित्साधनेन भाव्यम ? न तद्भक्तेरन्यद् भवितुमर्हति। सा चानन्दमात्रे चेतःश्रवणात्मिका, तत्र चेतसस्तत्रैव पतनं भवति। इति तत्र प्रयोजकमन्तरा तत्कार्यासिद्धिरिति गूढमर्थं व्यञ्जयन्पृच्छति।

कामादिभिर्लिङ्गैरेवं ज्ञायते — मनोऽस्तीति। तत्केनेषित, केन प्रेरितं सत्प्रेषितं=प्रेष्ठम्। पतनमत्र वैकल्यप्रयुक्त आश्रित देश-स्थितिफलको व्यापारविशेषः, तदाश्रय. पततीत्युच्यते। एवमुक्त्याऽन्यत्राप्रवृत्ति सूचिता। प्रति पतति। सत्तामात्रमनिष्ट, चिन्मात्रमिष्टमानन्दमात्रं हि 'प्रेष्ठ' तत्। ईषिरत्र प्रेरणायां वर्तते। मनो हि क्रियाज्ञानोभयशक्तिमदिति, क्रियाशक्तिमत्तामस्य जानाति। 'केने'ति स्वातन्त्र्यवान्पृच्छा-विषयो भवति। तद् ब्रह्म, इतरद्वा ब्रह्मेति चेन्न, सधर्मकत्वापत्तेः, मन आदिन्यायेन प्रेर्यत्वापत्तेश्च। यदि च यथाकथञ्चित् प्रेरकत्वमेव मन्यते तर्हि कुतो न सर्वेषां सेवायां मन ? अथ यदि बाधकं तर्हि कुतो न वैपरीत्यम् ? ये प्रवर्तन्ते ते बाधकेन निरुद्धाः स्युः। अथ ये न प्रवर्तन्ते तेऽनिरुद्धाःस्युरिति। तत्र च नियामकं वक्तव्यं स्यात्।

यद्यपि चन्द्रादयोऽधिष्ठातारो देवतास्तत्तदिन्द्रियाणां संभवन्ति, येन समाधिः सिद्ध्येत्तथापि- आत्मवत् तास्वपि पारतन्त्र्यमेव मन्येत, इतरच्चेन्न। वेदे ब्रह्मातिरिक्तस्याभावात्. "आत्मैवेदमग्र आसी" दिति हि श्रुतिः।

अथ यदि किञ्चित्प्रवर्तकं स्वतन्त्रमेवैतदिति ? तर्हि-" स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छते० " इतिवद् ब्रह्मण्यपि प्रवर्तेत ? तथा च " यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सहे"ति श्रुतिकोपः कथमपनेय ? " मनसैवेतदाप्तव्य "मिति श्रुतिस्तु सगुणब्रह्मविषया भवति, इति निर्गुण-ब्रह्मसेवना कथम् ? तद्भावाच्च कथं पुरुषार्थः ? इत्यवश्यं मनसः प्रेरकमपेक्षितम् ।

अथ कथञ्चित्समाधये प्रतिबन्धकमेव मन्यते तर्हि सर्वतो बलवत्प्रतिबन्धकमसुराः । यत एतच्छ्रुतम् । मन उपक्रम्य- " तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयञ्चासंकल्पनीयञ्च, पाप्मना ह्येतद्विद्ध 'मिति । परमुत्तेजकेन प्रतिबन्धकनाश-दर्शनात्पूर्वपक्ष एवावतिष्ठते । तथा 'केन प्राण प्रथमः प्रैति युक्त' इत्यपि ।

ननु कथमेतदुपगतं प्राणोऽस्वतन्त्र इति ? अस्त्यत्रास्य स्वातन्त्र्ये शब्दः-' सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको मृत्युनाप्तः, प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते, प्राण इतरान्रक्षति मातेव पुत्रानिति' । अत्र प्राणस्य मृत्यु-संसर्ग-शून्यता, इतर-संग्रसितृता चोक्ता । इति चेन्न—

" त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य, ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि " । " प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीते'ति निगमे-इन्द्रियाणां हृदि सन्निवेशेन शासनवत्प्राणानामायासेन पीडनतया तच्छासनस्यापि श्रावणान्मनोवत्पारतन्त्र्यमस्त्येवेति । स प्राण ' प्रथमः '-प्रतमः प्रकृष्टतमो भवति । अस्थ्यादीनि निकृष्टानि, प्रकृष्टानीन्द्रियाणि, प्रकृष्टतरं मन प्रकृष्टतमः प्राण । इति जीव-परिकरेषु प्राणस्य मुख्यामात्य-स्थानीयत्वात्सर्वेभ्य प्राणेभ्यो गुणाधिकत्वात्प्राथम्यम् । अत्र च श्रुतिः —

यथा वा " अरा इव रथनाभौ [समर्पिता एवमस्मिन्] प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्० " " अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमव-

ष्टभ्य विधारयामि" इति प्राणश्चोपक्रम्य –" तस्मिन्नुत्क्रामत्यथैते सर्व एवोत्क्रामन्ति, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते" इति च।

'केन युक्तः' केन योजितः। राजयुध्ववत्, अयमन्तर्भावितण्यर्थो भवति। प्रेरितः प्रेषितं प्रति प्रैति। स्वनिर्वाहार्थं महतोऽत्र लम्बः प्रायणं, तत्करोति। सर्वाणि वस्तूनि मृत्युना व्याप्तानि–इति न प्राणपोषकाणि। आनन्दमात्रं तु तथा भवति। तथा चात्रागमः—"को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्या' दिति। अनेन भस्त्रावच्छ्वासो व्यावर्तितः–'केनः प्राणः प्रथमः प्रैति युक्त' इति

एवं 'केनेषिता वाचमिमां वदन्ति' इति। वृतीरिव त्वं मनसोऽसि, इति। 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूप' मिति च श्रुत्या मनोनुविधायिनो, व्यवहार–जनकं इन्द्रियं वाग् इति स्वतात्पर्यवचनेव्यापाराविष्टा साधनम्। यदि स्वतात्पर्यं नाविष्कुर्याद् व्यवहार उच्छिद्येत। उच्चारितः शब्दः प्रत्यायको भवति नानुच्चारित इति।

अत्रैव आगमः—

'यद्वै वाङ् नाभविष्यन्नधर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं, न साधु नासाधु, न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति' इति।

तथा च 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति' इति केनेषिता' अत इयं वाच वदन्ति, व्यक्तं शब्दं करोति। कर्मार्थो धात्वर्थे निलीन इति द्वितीयार्थोऽत्र, प्रथमार्थः कर्ता। कर्तृक्रिययोर्विभक्तिवचनव्यत्ययौ छान्दसौ।

अपर आह–केनेषिता एषा वाक् 'वदन्ति' भवति। उच्यते योऽर्थः सः– 'वद, वदतेर्व्यक्तवाक्कर्मणः कर्मसाधनो बाहुलकाद्विच्। कथनीयोऽर्थ उच्यते, 'वद' इति, तस्याः 'अन्ति' समीपे भवति। यावता नार्थमभिधत्ते तावतार्थं इयं वाग् विप्रकृष्टा भवति। इत्येवमुच्यते–' केनेषितां वाचमिमां वदन्तो'ति कार्येणानु-

मितां वाचं प्रत्यक्षां करोति। उपदेशकाल आचार्ये ब्रह्मावेशाद् ब्रह्म-सान्निध्यादलौकिकप्रत्यक्षेण तथा। अतएवालौकिकः प्रयोगः। " शास्त्रदृष्ट्या तूपदेश " इत्यत्र चेदमुपपादितवन्त आचार्या.।

सर्वं वस्तु पापानुषक्तमिति कथनार्हं न भवति। आनन्दमात्र-न्त्वपहतपाप्मत्वेन तथा भवति, तत्रास्या' प्रवृतिः कस्य प्रेरणयेति।

तथा 'चक्षु' श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति। दीव्यतिरयमत्र कान्ति-कर्मा। तेन "स वै नैव रेमे," " तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय-मैच्छत," " स हैतावानास, " " यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ " इति श्रुतौ स्वक्रीडा-सिद्धये येच्छा, तद्वान् देवः अस्ति कश्चनानु-मानेन सामान्यतो ज्ञातः। यः क्रीडार्थं जगन्निर्ममे। उच्चनीचभाव-मन्तरा च क्रीडा रसाधायिका न भवति, इति तत्र जगति उच्च-नीचतां कर्तुं तेनेयमिन्द्रियाणां सृष्टि' कृता। तेषां चेत्स्वातन्त्र्यं स्या-त्क्रीडा न सिद्ध्येत्, इति तानि परतन्त्राणि कृतानि। इति कदाचि-त्स्वोपयोगे कुर्यात्तदा सिद्ध्येदपि भक्तिमार्ग', परं सन्दिह्यत इति प्रश्नः।

अनेनैव न्यायेन पूर्वत्र 'केने' ति यत्तृतीयया निर्दिष्टं, तत्र देवेनेति-अध्याहार्यम। एवञ्चैकवाक्यता भवति।

अयमत्रभावः --

स्वक्रीडार्थं सृष्टिपक्षे ब्रह्मणो देवत्वेन सृष्टानामिन्द्रियाणा कदाचित्स्वार्थमप्युपयोगः कर्तुं शक्यते, परं यो धर्मो यत्र सन्नि-वेशितस्तेन धर्मेण सहितानां तेषां सः। श्रुते वा दृष्टे वा वस्तुनि प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा भवति। प्रवृत्तौ सुखस्य प्रयोजकता कर्तृ-निष्ठधर्मश्च करणे समायाति, जीवानां प्रवृत्त्यर्थमपेक्षितः, अन्यथा जीवास्तत्र न प्रवर्तेरन्।

तत्र ब्रह्मणि, आनन्दाख्यो धर्म' सम्वादार्थम्। स मनसि अशा-त्मको ह्यायाति- इति- आनन्देऽस्य करणता भवति। तथात्र श्रुतिः- ' मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूप. पुत्रो जायते स आनन्द इति '।

तथा प्रियतापि भवति ब्रह्मधर्मः, सः प्राणे जीवानां प्रवृत्त्यर्थमपेक्षित. । अन्यजीव-प्रवृत्तिस्तत्र न स्यादिति सः, तदर्थमंशात्मकः समायाति । तत्र प्राणस्य करणता । अत्रापि श्रुति.—" प्राणस्य वै सम्राट् कामायाज्यं याजयति, अप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णाति । अपि तत्र वधाशङ्क भवति, यां दिशमेति प्राणस्यैव कामायेति " ।

एवमेव प्रज्ञान ब्रह्मधर्मः । स जीवप्रवृत्त्यर्थमपेक्षितः । अन्यजीवप्रवृत्तिर्न स्यात्स , तदर्थमंशात्मको वाचि समायाति, तत्र वाचः करणता । " वाचा वै सम्राट् बन्धु' प्रज्ञायते " "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराण-विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, " " इष्टं हुतमाशितं पायितम, " " अयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि वाचैव प्रज्ञायन्ते " । इति ।

सत्यता ब्रह्मधर्मः, स जीव-प्रवृत्त्यर्थमपेक्षितः । अन्यजीव-प्रवृत्ति र्न स्यादिति स', तदर्थमंशात्मकश्चक्षुषि समायाति । तत्र चक्षुषः करणता । "चक्षुषा वै पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति, स आहाद्राक्षमिति-तत्सत्य भवति "। इति निगमः ।

एवमेवानन्तता ब्रह्मधर्मः स जीव-प्रवृत्त्यर्थमपेक्षित . अन्यजीव-प्रवृत्तिर्न स्यादिति सः, तदर्थमंशात्मक श्रोत्रे निवेशित. । तत्र श्रोत्रस्य करणता । " तस्माद् सम्राट् अपि काञ्चन दिशं गच्छति नैवास्या अन्त गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छति, " " अनन्ता हि दिशो, दिशो वै श्रोत्र " मिति निगमो भवति ।

यथा श्रोत्रेण गुणश्रवणेन कस्यापि वस्तुनोऽलं न याति, तथानन्तस्य ब्रह्मणः श्रोत्रेण श्रवणेऽन्तं न याति । तस्य सत्यत्वार्थं-श्चक्षुरपेक्षितम । चक्षुषा दृष्टस्यैव भजनेऽभिरुचिरुदेति । जातेऽपि दर्शने ज्ञानं विना नाभिरुचिरुदेति-इति प्रज्ञानार्थं वागपेक्षिता । प्रज्ञातेऽपि यदि प्रियत्वं न भासेत, तर्ह्यपि नाभिरुचि स्यादिति प्राणोऽपेक्षितः । तथा प्रियत्वे भासिते यद्यानन्दो न स्यात्तर्ह्यपि न स्यादभिरुचिरिति मन अपेक्षितम । एवमभिरुचिर्यथा वर्द्धते तथातथा सेवना सिद्ध्यति- इति न कथञ्चिदपि सिद्धान्त-विरोध आयाति ॥ १ ॥

परमत्राप्तकामस्य ब्रह्मणः किमपेक्षितं ? येन स्वोपयोगे सर्वेन्द्रियाणि कुर्यादिति दृढतरनिश्चयाभावेन सन्देहस्थितेः प्रश्नः कर्तव्यो भवति– इति कृतः । कृतस्य प्रश्नस्योत्तर आचार्येण ब्रह्म वक्तव्यम्, तन्मया श्रुतिषु मन आदि प्रेरकं ब्रह्म विरोधाभावाय सगुणमेव मन्तव्यम् ? तथा च सगुणं ब्रह्म सेवना-विषयो भविष्यति, निर्गुणस्य सर्वव्यवहारातीतत्वेन सेवना-विषयत्वाभावात् । इति तेन न कथञ्चिदपि परमपुरुषार्थं सिद्धयति, भक्तिविषयस्याभावात् । इति प्रश्ने, उत्तरमाहाचार्य —

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो यद्,
वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः, चक्षुषश्चक्षुः ।
अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" ॥२ ।

तत्रायं प्रश्नो ब्रह्म-विषये, उच्छृङ्खल-स्वातन्त्र्येऽस्य तात्पर्यम् । उच्छृङ्खलानां सर्वधर्माणां तत्रैव समावेशात् । ब्रह्म तावद्वेदैकसमधिगम्यं, न प्रमाणान्तरगम्यम् । अविरुद्धयोः स्मृतियोगिप्रत्यक्षयोः सन्देहवारकत्वमेव, न प्रमितिजनकत्वम् । अत्र च श्रुतिः—"तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति । अन्यस्य प्रमाणस्य प्राक्प्रवृत्तौ वेदानामधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रामाण्य-भङ्गः ।

वेदभिन्नानां प्रमाणानां प्रत्यक्षोपजीवकत्वेन, तत्प्रामाण्यस्य गुणसापेक्षतया, गुणस्य च सत्वजन्यत्वेन सर्वेषां सत्वसापेक्षत्वात्, सत्व-प्रवृत्तेश्च वेदोक्तसाधनानुष्ठानेन तुष्टाद् ब्रह्मणः सकाशादेव भवनात् ।

अत्र च निगम —"महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्तकः" इति । तेन सर्वेषां प्रमाणानां वेदोपजीवकत्वमस्ति, वेदद्वारैव ब्रह्म जिज्ञास्यम् । अतएव श्रुतिराह —"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" "सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पर" मिति ।

वेदविचारे तु —

" तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति '। तथा " न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन " इति श्रुत्या " य न स्पृशन्ति न विदुर्मनो बुद्धीन्द्रियासवः " इति स्मृत्या च यथा स्वप्रकाशत्वेन, मनोविषयत्वेन प्रमाणाविषयत्वं सर्वप्रमाणानुग्राहकत्वञ्चास्ति, तथा " सदेव सौम्येदमग्र आसीद् " " एकमेवाद्वितीय " मित्युपक्रम्य " तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति " स ईक्षाचक्र " एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे "ति श्रुत्या, इदमेव करिष्यामीत्यध्यवसायात्मकालोचनरूपयेक्षया ब्रह्मणः सर्वप्रमाणगोचरता महिमबोधिका। समानबलयोश्च न बाध्यबाधकभावः. न चात्राध्यारोपवादन्यायावतारः। अध्यारोपविषयांशेऽप्रामाण्यप्रसक्त्या सर्वांशेऽपि तत्प्रसक्त्या वेदवैयर्थ्यात्, विरुद्धधर्माणां ब्रह्मणि माहात्म्यबोधनार्थत्वाद् भूषणत्वं न तु दूषणत्वम्।

तदत्र श्रुति'—

" तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके " " अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधी " ति। तस्मात्सर्वव्यवहारातीतोऽप्यहं लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीत्यैच्छत्। तेन न प्रमाणसाधनवैयर्थ्यम् एतावता प्रमाणबलेनाविषय, स्वेच्छया विषयः। इति ब्रह्मणि सिद्धम्, स्वतन्त्रत्वात्।

तथा च :—

" कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ' " मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन " इत्यादि श्रुति-वचनान्न बाधा। सापि " न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन ' इत्यादीनाम्। तथा सधर्मकनिर्धर्मकत्वोक्त्योरपि- अप्राकृतप्राकृत गुण-साहित्यराहित्य-तात्पर्यकत्वमतो न विरोध.. इति न पूर्वपक्षावकाश.।

तथा च '—

आत्मा। यत्पुनर्लौकिकप्रत्यक्ष तत्सगुणमिति निर्गुणे ब्रह्मणि न प्रवर्तते, धर्मिग्राहकमानेन तत्सिद्धमन्यथा- उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभा-वैशिष्ट्य-कल्पने गौरवं स्यात्। तदर्थमेव वेदे साधनानि निरूपितानि, तेनैव प्रत्यक्षेणेष्ट प्रति प्रवृत्तिः क्रियते, तस्य च ब्रह्माभिन्नत्वात्सकलकार्यक्षमतयाऽनवस्थादोषो नास्पद लभते। अतएव "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इति श्रुति' पराचां खाना स्वयम्भू-कृत विवरणमाह। सगुणानीन्द्रियाण्यलौकिकेन्द्रियाणामधिष्ठानानि भवन्ति। एतेषु तेषां ब्रह्मवरणकाल एव समावेशः।

तदत्र निगमः—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वा" मिति तेषु योग्यतायै "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्य"मित्यादिषु सत्यतपआदीनि (साधनानि) प्रोक्तानि।

एवञ्चाय श्रुत्यर्थो भवति :—

यथा "सम प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एमिस्त्रिलोकै" इति श्रुति सर्वसमत्वमाह ब्रह्मणः, तथा तत्तदाकारेण सर्वाधिदैविकत्वम। तेनाधिदैविक यच्छ्रोत्ररूप मनआदिरूपञ्च ब्रह्म तन्मनआदीनां प्रेरकम।

अतएव श्रुत्यन्तरम —

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो ये विदुः," "ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्य" मिति। आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात्केवलान्न कार्यसिद्धिरिति सिद्धान्त। "स उ सर्वस्य श्रोत्रस्य श्रोत्र"मिति लोकवेदप्रसिद्धि-सूचनाय 'स' इति। तद्व्यतिरिक्तस्याधिदैविकत्व-व्युदासाय एवकारार्थक 'उ' शब्दः। तेन सर्वव्यवहारविषयता ब्रह्मणः सूचिताऽतो न भक्तिमार्गोच्छेदः। अत्रैव तादृशानां वचनानां चारितार्थ्यात्। ज्ञानमार्गे न, जीवस्याक्षरे लयादिन्द्रियाणाञ्च लयात्।

'श्रोत्र' मिति शृणोति यस्मात्तच्छ्रोत्रम। 'श्रोत्रं क उ देवोयुनक्ति' इति प्रश्नानुरूपमेतत्।

तथा 'स उ मनसो मनो यत्'। 'यदि' ति सर्वत्र प्राप्नुवत्, प्रेषित वा। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः"" सर्वमिदमभ्यात्तः सर्वमिद प्रशास्ति 'इति हि श्रुति। तेन लौकिकापेक्षया वैलक्षण्यमुक्तम्। यद्यपि मन· क्रियाशक्तिमत्तथापि—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति श्रुतेः कारणधर्मा प्रायः कार्ये भवन्ति, इति न दोषः। 'मनसैवानुद्रष्टव्य' मिति श्रुतावपि, एतदेव मनो निरूपितम।

तथा "स उ वाचो ह वाचम"-वाच इदं दैवतमिति 'तस्येद' मित्यण। शक्यं चानेन। श्वमांसादिभिरपि श्रुत्प्रति न्तुमिति वत्र दोषः। "वाच धेनुमुपासीते" तिश्रुतावेषैव वाङ् निरूपिता। सर्वकाम-दोग्धृत्वाद्धेनुत्वम् (तस्या)।

तथा 'प्राणस्य प्राणः'। प्राण इति प्राणयति। "को ह्येवान्यात्क प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्या" दिति निगम।

तथा चक्षुपश्चक्षुरिति। विचष्ट इति 'स ईक्षत लोकान्नुसृजा" इति तत्र निगमः।

अत्र ब्रह्मणः श्रोत्रमनोवाक्प्राणचक्षूरूपता निरूपणेन तत्त्वं, सवितृत्वं, वरेण्यत्वं, भर्गस्त्वं, देवत्वं च यदुक्तं मन्त्रे, तदिह स्मारितम्। धियः प्रेरकत्वं यत्पृष्टं तदुत्तीर्णम्। यतोऽयं पृच्छको धीमाँस्तस्य प्रेष्ठताऽऽत्मन्येव निश्चिता नान्यत्र। तेन सिद्धान्तिना सर्वेपामात्मभूते ब्रह्मणि प्रेष्ठतां समर्थय्य प्रमाणरूपतामापन्नस्य तस्य तत्प्रत्येव प्रेरकत्वं सिद्धान्तितम्।

भजनं हि प्रमाणप्रमेय-सापेक्षमिति, लौकिकप्रमाणान्यलौकिके प्रमेये गन्तुं न समर्थानि-इति-अलौकिकान्युक्तानि। श्रोत्ररूपेणैश्वर्यवत्ता, प्राणेन वीर्यवत्ता, वाचा यशस्विता, चक्षुषा श्रीमत्ता, मनसा ज्ञानिता वैराग्यवत्ता च द्योतिता।

नन्वेवं सति सर्वसेव्यत्वं स्य दुः बन्धमोक्षव्यवस्था चोच्छिद्यतेति-

चेत्— अत्राह :—' अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इति । तत्र धीरा अस्माल्लोकादतिमुच्य प्रेत्यामृता भवन्ति- इति सम्बन्धः । तत्रेत्याक्षेपलभ्यम् । अधिकृता धीरा भवन्ति ये अस्माल्लोकादतिमुच्य प्रेत्य अमृताश्चेति । धीरा इति धियमीरयन्ति, ध्यानवन्तो वा ब्रह्म-भक्ताः । अस्माल्लोकादतिमुच्य वर्तमानाः पुत्रैषणा वित्तैषणालोकैषणाभ्यो व्युत्थिता सात्विकाः प्रेत्य वर्तमानाः, भवान्तर्संभवा' । अमृता, न मृतं येषां ते । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चाभे भवत ओदन. मृत्युर्यस्योपसेचन'' मिति श्रुत्युक्तया प्रणाल्या ब्रह्मौदनत्वं प्राप्ता दैवास्तेऽत्र भवन्ति, प्रभवन्ति भक्ताविति ।

तथा चैतादृशविशेषणविशिष्टानामेव ब्रह्म-सेवायां फलमुखाधिकार, इति न बन्धमोक्ष-व्यवस्थोच्छेदः । नापि ब्रह्म-सेवायां सर्व-प्रवृत्तिरिति समाहितम् ।

अत्र प्रश्न—क्रमेणोत्तरनिरूपण इदं तात्पर्यम :—

श्रवणादीन्याधिदैविकानि यदा, तदा फलम् । पूर्वं ब्रह्म-वाचकानां पदानां शक्ति-तात्पर्य-निर्धारो ब्रह्मणि, ततो युक्तिभिश्चिन्तनम्, ततो वचनम् । तान्येतानि–अन्योन्यनिर्वाहकाणि, एतेषामुत्तरोत्तरमावृत्या दीर्घकालादरनैरन्तर्येण व्यसनसिद्धौ तद्विना स्थातुमशक्तौ प्राणेन प्राणनं भवति । तत्फलं- प्रादुर्भूतस्य भगवतो ब्रह्मणो लावण्यामृत–पान नेत्राभ्यामिति ॥ २ ॥

ननु किमर्थमन्यानि प्रमाणानि कल्प्यन्ते ? तत्र लौकिकेषु प्रतिबन्धकोत्तेजकाभ्यामेव सर्वोपपत्तेरिति चेन्न — लौकिकाना प्रमाणानां तत्र प्रवृत्तिरेव नास्ति, तस्यां हि तथा कल्प्येत नत्वन्यथेत्याह —

" न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो,
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे " ॥ ३ ॥

' तत्र ब्रह्मणि चक्षु र्न गच्छति ' । यद्यपि चक्षुषो ज्ञानशक्तिमत्वमेव, तथापि "तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति " इति श्रुताविन्द्रियाणां शक्तिः क्रियारूपा प्रतिपादिता, अतो गमनमप्युपपद्यते । "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति " इति ज्ञानशक्तिमत्वम् । यतो लौकिकप्रमाणाना स्वत. पृथग्भूतेषु प्रमेयेषु प्रवृत्ति , अन्यथा तैः स्वरूपमपि गृह्येत । ब्रह्म तु चक्षु.स्वरूपभूतम । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान् इतिनिगमः " ।

नन्वेवं ब्रह्मणि कुतो न स्यादिति चेन्न–" परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ' इति श्रुत्या तत्राचिन्त्यानन्तशक्तिमत्वस्य बोधनादनवगाह्यमाहात्म्यस्याग्रे व्युत्पाद्यत्वाच्च । एवमेव वा तत्र वाङ् न गच्छति, " यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " इति निगमः ।

नन्वस्ति किञ्चित्तृत्प्यादिविषयस्य निरूपणं न भवति, मनसा मनने तु किं प्रतिबन्धकमिति चेत्तत्राह .–' न मनो गच्छति तत्रेति न विद्मो न विजानीम " इति च । द्रव्य–स्फुरणे मति ' विद्म ' इति भवति, विशिष्टज्ञाने च ' विजानीम ' इति भवति । त एते बुद्धि–कार्ये भवत· । ' द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः " इति बुद्धिकार्याणि । तेन तत्र बुद्धिमनसी न गच्छत । अत्र ' न विद्मो न विजानीम· शुश्रुम ' इति निर्दिश्यते, तेन ' न ' इत्यध्याहार्यम । तथाच– तत्र नः चक्षुरादि न गच्छति । ' चक्षु ' रिति बहिष्करणस्योपलक्षणम, तेन श्रोत्राद्यपि तथा । ' मन ' इति अन्तःकरणस्योपलक्षणम्, तेन चित्ताद्यपि तथा । बुद्धिस्तु कार्यतो लभ्यैव ।

' यथैतदनुशिष्या ' दिति । यथातथो· सम्बन्धो योजनीयस्तथा च-'यथा कश्चनापि एतद् ब्रह्मानुशिष्यात ' तथा नश्चक्षुर्वाङ्मनांसि तत्र न गच्छन्ति, तथा ' न वयं विद्मो न वयं विजानीम ' इति योजनीयम ।

अयमर्थ .– चक्षुरादिभिर्दृष्टस्य श्रुतस्य वा मन आदिभिः संकल्पितस्य वाचा प्रबोधनमनुशासनम . तत्तु ब्रह्मणो दु·शकम, तेषां तत्र प्रवृत्तेरभावादिति ।

नन्वेवं सर्वथा प्रमाणाविषयत्वे कथं पुरुषार्थ–सिद्धि स्वरूप-ज्ञानाभावादिति चेदत्राह :—

‘ अन्यदेव तद्विदितादथो ’ इत्यादिना । ब्रह्मणो वेदैकसमधिगम्यत्वात्प्रथम वेदा प्रमाण तत्र, नान्यत् । ‘ तद्विदिता ’ज्ज्ञान विषयादन्यत्, तथा ‘ अविदितादधि ’ ज्ञानाविषयादधि = उपर्यपि भवति । ज्ञानविषय जगत्, तद्विलक्षणमक्षरं ब्रह्म । तद्रूपमात्रता व्युदासायाह – अविदितादधि ’–इति । अविदितादक्षरब्रह्मणोपेक्षयाऽधि = अधिकमिति । “ ते ये शत प्रजापतेरानन्दा. स एको ब्रह्मण आनन्द ” इति गणितानन्दकमुक्त्वाऽग्रे “ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्द ब्रह्मणो विद्वा”निति श्रुतौ तथोच्यते ।

‘ इति ’ एतादृशमेवागणितानन्द ब्रह्म, ब्रह्मनिष्ठेभ्य ‘ शुश्रुम वयम् ’ । ‘ पूर्वेषा ’मित्यस्य ब्रह्मनिष्ठेभ्य ’इति पूर्वेषामिति फल प्राप्तवद्भ्य । “ ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराणमग्र्य ”मिति श्रुत्या सर्वस्यादिर्ब्रह्मेत्युक्त, तत्पूर्वं तदाविष्टा पूर्वे भवन्ति । ब्रह्मता हि फलम् । ‘ शुश्रुम ’ इति = आनुपूर्वीविशिष्टया श्रुत्या ज्ञातवन्त, अन्यथा श्रवणे त्वनौपनिषदत्व स्यात् । एतेन—वेदैकसमधिगम्यत्वमुदाहृतम्, ब्रह्मणो वेद–प्रतिपाद्य रूपं यादृश तदप्युक्तम् ।

ननु श्रुत्या ज्ञाने द्वारमपेक्षितमिति चेदत्राह –‘ ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ’ इति । ‘ ये ’= पूर्वे ‘ नो ’ ऽस्मान् ‘ तत् ’= ब्रह्म प्रतिपादकत्वेन ब्रह्मभूतं श्रुत (‘ व्याचचक्षिरे ’=) व्याख्यातवन्त । पदच्छेदार्थोक्ति–विग्रह-वाक्य-योजनाऽऽक्षेप-समाहिति रूपं व्याख्यान कृतवन्त – इति ।

तथा च मीमांसया संशयानपोह्य श्रुत्या ज्ञातवन्तो वयमित्यर्थो भवति, तथा ह्याहुराचार्या —

“ अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।

तपसा वेद–युक्त्या च प्रसादात्परमात्मन ” इति

व्याख्यानमुपलक्षणं तप परमात्म - प्रसादयोरिति पूर्वेषां, ब्रह्मनिष्ठायां गमकमाहु ' न ' इति। वहुवचनं क्वचिन्महत्सु प्रयुज्यते, तदत्र प्रयुक्तम।

तेनायमर्थ - यदि ते ब्रह्मनिष्ठा न भवेयुस्तर्हि तत्सम्बन्धान्महत्वमपि न भवेदतस्तथेति ॥ ३ ॥

अत परं सामान्यत उक्तं बुद्ध्यारूढं न भवति इति विस्तरतस्तदेव पुनर्वक्तुमाह —

" यद्वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते " ।४॥

' यत् '= ब्रह्म ' वाचा '= वागिन्द्रियेण ' अनभ्युदित '= अभिमुखीभूयोर्ध्वं स्थित्वा गत न भवति, इति।

ब्रह्मण पराची भवति वाग ब्रह्माधीना च, तेन तथा कुत एव तत्राह - येनेति, 'येन'= ब्रह्मणा ' वाग् '= वागिन्द्रियम 'अभ्युद्यते' = अभ्युदीयते अभिमुखीभूयोर्ध्वं स्थित्वा, ' ईयते '= गम्यते। ब्रह्म सर्ववस्तुभ्य प्रत्यक् सर्वस्य वशि च । तेन वाचा ब्रह्म नाभ्युदित, ब्रह्मणा च वागभ्युद्यते।

तेन किं तत्राह —' तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद'मिति। वाच प्रेरयितृ य'त्तदेव ब्रह्म त्व विद्धि'=जानीहि। ' इद ' वागादि ब्रह्म ' न विद्धि '। इदमेव यत कारणादुपासते ततस्तथा।

' इद ' मिति। उपासनापरितुष्टस्य साक्षात्कार-विषयत्व-व्यपदेश । उपास्यस्य ब्रह्मता च वोधिता, साकारतापि ब्रह्मणस्तथा

' ईन्कामान्द्यति (खण्डयति) इति, ' इदम '। आप्तकामता-सम्पादकमपीत्यपि भवति। ' अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या ' मिति न्यायेप्येतत्सिद्धम।

व्यक्तया वाण्याभिमुखमेवेन्द्रियमर्थं वर्णयितु प्रभवति। लौकिकमिन्द्रियं नालौकिकस्यार्थस्याभिमुखमिति न तत्र वाक्प्रवृत्ति । ब्रह्म तु सर्वाभिमुखमिनीन्द्रियरूपमपि, तथा तेनालौकिकवाग्विषय.।

एतत् कार्यमपि ब्रह्म यदा करोति यन्मार्ग–निर्वाहाय, स तदा मार्ग कथमुत्कर्षशाली न स्यात्? तेन वेदाविप्लवाय "यत्तद्द्रेश्यमग्राह्य" मित्यादीनि वाक्यानि ज्ञानमार्गपराणि, "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" "तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा" इत्यादीनि भक्तिमार्गपराणीति व्यवस्थितम्। ब्रह्मरूपेन्द्रियाणां भक्तिमार्गार्थमेव प्रादुर्भावात्, ज्ञानमार्गे इन्द्रियाणां विलयस्य श्रावणात्। स्वाधिदैविकरूपाविष्टा वाग् ब्रह्म कीर्तयति-इति कीर्तन-निर्वाहक ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

एवमेव मनन-निर्वाहक तदेवेत्याह —

"यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेद यदिदमुपासते" ॥५॥

'मनसा' इति-'उभायन्तास'वितिवत् सोरादेश । 'मन' यत्कर्म ब्रह्म 'न मनुते,' 'येन' ब्रह्मणा च 'मनो मत'मिति मानितमाहु । अन्तर्भावितण्यर्थोत्र मन्यति । 'तदेव ब्रह्म त्व विद्धि'। मनो न ब्रह्म, यत 'इदमेवोपासते,' मनो नोपासते । यथा पूजा–साधनानि पूज्यरूपाणि न भवन्ति, तथा मनोऽपि नोपास्यम्। (अन्यत्) पूर्ववदत्रानुसन्धेयम् ।

एवञ्च स्वाधिदैविकरूपाविष्ट मन ब्रह्म मनुते इति मनन-निर्वाहकं ब्रह्मैव ॥ ५ ॥

एव मत्वा ब्रह्मकीर्तने फल ब्रह्म–प्रादुर्भाव', तद्विशिष्टस्य दर्शने साधन चक्षु, तस्य कार्यं दर्शनम्। तन्निर्वाहकमपि तदेवेत्याह :—

"यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते" ॥ ६ ॥

मनसेतिवच्चक्षुषे'ति । चक्षुर्यत् न पश्यति । 'येन' कारणेन चक्षुः 'चक्षूंषि' सत् 'पश्यति'। एकं चक्षु र्ब्रह्मदर्शने-

नातृप्तमित्यात्मनो बहुत्वमभीप्सत् पश्यति, तदा ब्रह्मावेशाद्बहुत्व विरुद्धत्वमप्याविर्भवतीति 'चक्षूंषि' इत्युक्तम्।

'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'। इदं चक्षुर्न ब्रह्म यत इदमेवोपासते न चक्षुरिति। तथा च स्वाधिदैविकाधिष्ठितं च क्षुरेश ब्रह्म पश्यति, तदा ब्रह्मण आसेचनकत्वेन तद्दर्शने तृप्त्यन्तमप्राप्यात्मनो बहुत्व-मभीप्सति, तदाऽऽवेशाद्बहु भवति, इति व्यसन-साधक+ ब्रह्मैव। व्यापकस्य चक्षुष एव ब्रह्मणि प्रवृत्ति र्न संकुचितस्येति भाव. ॥६॥

दर्शनोत्तरकालं रसरूप ब्रह्म वस्तुगत्या पोषार्थं तिरोभवति। तेन विप्रयोगे सम्पन्ने "गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि" इति न्यायेन जीवनार्थं गुणा अपेक्षिताः. विप्रयोगाग्निम्लान-जीवनस्य। ते च कीर्त्यमानश्रूयमाण-भेदेन द्विविधा। प्रथमा-स्त्वक्ता, द्वितीया अवशिष्यन्ते। तेषामपि श्रवणविषयता-निरू-पकस्य श्रवणस्य निर्वाहकं ब्रह्मैवेत्याह :—

"यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते" ॥ ७ ॥

'श्रोत्रेणे' ति विभक्ति-व्यत्यय. श्रोत्रम्। 'यन्न शृणोति'। 'येन कारणेन श्रोत्रमिदं श्रुतं' करोति। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'। श्रोत्रं न ब्रह्म, यत 'इदमेवोपासते' न श्रोत्रमिति। 'इदं श्रुत'-मिति श्रवण-विषय परं ब्रह्म, यदा परमपुरुषार्थत्वेन भात भवति तदेदं भवति- ईन कामान्यति-इति-'इदम्'।

'आचार्या अप्येवमाहु :—

'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः,
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वञ्च भासते'

इति तद्रीत्या सर्वत्रारुचिबाधकत्वानात्मत्वस्फूर्तिजनकम्।

+ "ततः प्रेम तदासक्तिर्व्यसनञ्च तदा भवेत्" इत्यत्रोक्तस्य व्यसनस्य साधकम् [सु०]

तथा च सर्वत्रारुचिबाधकत्वानात्मत्वस्फूर्तिजनकं श्रवण-साधनं यच्छ्रोत्रमलौकिकं तस्यैव ब्रह्मणि प्रवृत्तिर्न लौकिकस्येति भावः ॥७॥

एवमेव विप्रयोगावस्थायां रसस्वाभाव्यात्प्राणापगमोपस्थितौ स्थित्यर्थं प्राणोऽपेक्ष्यते, तत्कार्यस्थितेर्निर्वाहकं ब्रह्मैवेत्याह —

"यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते" ॥ ८ ॥

इति प्रथम. खण्ड ।

'प्राणेन' कारणेन यत्कर्तृ 'न प्राणिति', न तत्र स्वकार्यद्वारा प्राण-प्रवृत्तिरिति भावः । 'येन' कारणेन 'प्राण' स्वकार्य-विषय प्रति 'प्रणीयते'=प्राप्यते । 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इद प्राण ब्रह्म न विद्धि । अप्रयोजकतामनुसंधाय नपुंसकम् । यतः कारणादिदमेवोपासते न प्राणमिति ।

एवं स्वकार्यसमर्थस्यैव सर्वत्रालौकिकप्राणस्य प्रवृत्तिर्ब्रह्मणि न लौकिकप्राणस्येति भाव । फलदशायां यादृशक्रमोऽत्र विवक्षितः सोऽत्रोक्तः ॥ ८ ॥

कारिकाः—

मनः, प्राणो, वचश्चक्षुः श्रोत्रमेतच्च पञ्चकम् ।
ब्रह्म-कार्यक्षमं यस्य, स कृतार्थो न संशयः ॥१२॥

यादृशानि प्रमाणानि, प्रवृत्तिर्यादृशी मता ।
तेषां सेव्ये भक्तिमार्गे परमे सोपपादिता ॥१३॥

शिष्यस्यासंभावना या, जाता दुष्टप्रमाणतः ।
निराकृता तु सा ब्रह्म-प्रमाणानां निरूपणात् ॥ १४ ॥

अलौकिकत्वाक्षेपात्तु प्रवृत्तिः संभवत्यपि ।
एव प्रमाणतः श्रैष्ठ्यं भक्तिमार्गे निरूपितम ॥ १५ ॥

इति सामवेदीय-केनोपनिषन्मनस्विन्या प्रथम खण्डः ॥

द्वितीयः खण्डः ।

*

कारिकाः—

प्रमाणदोषाभावेऽपि विषये दोष–योगतः ।
स्यादसंभावना तेषामवृत्तिस्तत्र वर्ण्यते ॥१६॥

१अल्पत्वं २विस्मयाभावः ३प्रकार–नियमो विदि-
४अस्वातन्त्र्यं, पञ्च दोषा ५अनुत्कर्षस्तथा मतः ॥१७॥

एतद्विरुद्धधर्माणां नैयत्यं ब्रह्मणि स्थितम् ।
पञ्चानां पञ्चभिस्तस्माद्विषयोऽत्र निरूप्यते ॥१८॥

—:—

' यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् । यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ तु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ " ॥ १ ॥ ९ ॥

(१) ननु किमर्थं जगद्विलक्षणं ब्रह्म स्वीकर्तव्यम् ? येनैषा कल्पना स्यात्, नामरूपकर्मात्मकस्य जगतः सर्वांशेन यथार्थज्ञाने इष्टमस्तु, किम्बाधकमिति चेदत्राह :—

' यदि मन्यसे ' इत्यादि । " यदेकमव्यक्तमनन्तरूप ' मिति श्रुत्या 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान्, इति श्रुत्या च जगदपि ब्रह्मणो रूपम् । " राहोःशिर" इति वदभेदेऽपि षष्ठी भवति । रूपमित्युपलक्षणं नामकर्मणो· " त्रयं वा इदं ब्रह्म यन्नामरूप कर्मेति " श्रुतिः । तद्धि रूप ' यत् ' जङ्गम यदिति स्यास्नु, संगृहणाति, तदह 'सुवेद' –कार्त्स्न्येन याथातथ्येन वेदेति ' यदि ' त्वं ' मन्यसे ' । यदस्य रूपं ब्रह्मणस्तद्रूपं तदहं वेदेति सम्बन्ध· । तर्हि ' दभ्रमेवापि नूनं त्व वेत्थ ' । "यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति॰ तदल्प " मिति श्रुतेर्ब्रह्मणो भेदाश्रयं रूपमल्पमेव त्वं वेत्थ ।

" विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जग "दिति स्मृतिरपि भवति। यतः ' न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते " " ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् " बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं ' " यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं " मिति श्रुतिर्हि ब्रह्मणोऽनल्पत्वमाह।

तद्यथा– नहि ' कटकं सुवर्णपरिणामं ' इति कटकं ज्ञात्वा सर्वं सुवर्णमिति ज्ञातं भवति, सुवर्णे तु ज्ञाते यावानयं सुवर्णपरिणाम कटक-स्वस्तिक-रुचक-कुण्डलादिः स सर्वोऽपि ज्ञातो भवति। एवं प्रपञ्च-ज्ञानेन न ब्रह्म ज्ञातं भवति ब्रह्मणि ज्ञाते तु सर्वं ज्ञातं भवति। इति तस्याज्ञानाद् दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ, न त्वदभ्रं, न च दभ्रादपि दभ्रं त्वं वेत्थ। वास्तविकदर्शनं व्यावर्तयति-' नून ' मिति।

अत्र कारणमाह–' त्वं यदस्य देवेषु '। ' यत् ' यस्मात्कारणात् ' अस्य ' ब्रह्मणः ' त्वं 'मन्यद्रूपं ' देवेषु '। वाजसनेयिब्राह्मणे विदग्धशाकल्येन पृष्टाः याज्ञवल्क्येनोत्तरे ये देवा वर्णिताः " अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशा " इति हि श्रुतिः। तेषु देवेषु तिष्ठति, सर्वान्तर्यामिरूपं, तदतो न ज्ञातं भवति, अतिसूक्ष्मत्वात्तस्य ज्ञानं एवाभीष्ट-सिद्धिर्नान्यथेति भावः।

" घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढं,
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः "

इति हि श्रुतिः।

ननु तर्हि ज्ञानमेव तस्य कथमिति चेदत्राह –' अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदित 'मिति। ' अथे 'ति ब्रह्मज्ञानस्य भिन्नप्रक्रमार्थे। ' नु ' निश्चये ' मीमांस्य ' सत् ' ते विदितं मन्ये '। मीमांसयैव निर्णेयं सत तद् ब्रह्म, ते विदितं मन्येऽहमिति। यत —

" असन्दिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवन्मतः।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञैः, दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम् " इति।

कालेन गुणेषु क्षुब्धेषु–अध्येतॄणां स्वभावभेदे सात्विकानामपि मीमांसया ब्रह्मणि सन्देहानामवश्यं निरस्यत्वात्। ' ते ' त्वयेति–

अधिकारिता सूचनाय। तत्ते मीमांस्यमेवाहं मन्ये, तेन विदित भविष्यतीति शेष.। पूर्व सन्देह-निरासः कार्य., अथ विदा इतं भविष्यति, ज्ञानेन प्राप्त भविष्यति। तथा च सन्देह राहित्य सम्पाद्य ज्ञाने जाते तत्प्राप्तिः। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मिति हि श्रुतिः। अलौकिकप्रमाणविषये ब्रह्मणो यदाल्पत्वेन प्रतीति स दोषः यतोल्पानि प्रमाणानि-अल्पमेव विषयमाक्रामन्ते, तेन दोषः प्रतीयते, स तु मीमांसया सन्देहे निरस्ते, ज्ञानेन च ग्रन्थिभेदे बाध्यते-इति निर्दुष्टमेव प्रमेयम् ॥ १ ॥ ९ ॥

(२) उक्ता या जगद्विलक्षणता, तां दर्शयितुं तस्याद्भुतकर्मतामाहाचार्य '—

" नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च " ॥२॥ १०॥

" क इत्था वेद यत्र स " इति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानं दुर्घट, यतो ह्यद्भुतकर्मत्वमाहास्य श्रुतिः।

" अन्धोमणिमविन्दत्तमनङ्गुलिरावयत् ", " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः " इति। " तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेव-मेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति श्रुति र्ब्रह्मसमीप-गमनेऽपि जीवानां तदप्राप्तिमाह। विचित्रा ब्रह्मलीला, यस्तावद्दृष्टि-'प्राप्तव्यं ब्रह्मेति' त त्यजति, कामयते च यस्त्यक्तव्य ब्रह्मेति-तं गृह्णाति। इति ज्ञातमपि ब्रह्म न ज्ञातमद्भुत कर्मत्वाद्यत.।

यस्तावद्वेदायं ' सु वेदेति ', फल-पर्यवसायि वेदन=सुवेदनम। ' स न वेदे' ति मन्येऽद्भुतकर्मत्वाद् ब्रह्मणः।

उक्तं प्रकार-द्वयमपि ब्रह्मणि न नियतम। यस्तावद्वेद-अय सुवेद. सोऽयं न वेदेति-स न वेद, अद्भुतकर्मत्वाद ब्रह्मणः। कथं वेत्ताऽवेत्ता स्यात ? इति मन्ये। तथा 'नाय वेद' सोऽयंवेदेति 'स न वेद' अद्भुतकर्मत्वाद ब्रह्मणः। कथमवेत्ता वेत्ता स्यात ? इति मन्ये।

एषाऽद्भुतकर्मता ब्रह्मणः पुरुषेणैव ज्ञायते न स्त्रियेति बोधनायाधिकारि–विशेषणमाह –' नाह ' मिति । नह्येतत्प्रकार-चतुष्टय जगज्ज्ञाने, इति जगद्विलक्षणं ब्रह्मेति । अस्मादेव कारणान्न जगति विस्मय उत्पद्यते ।

तेनेदं मिद्धम :—

जगत सर्वांशेन यथार्थज्ञानेऽपि भक्तिर्नोत्पत्स्यते । विस्मय-जनकस्यैव भक्ति–जनकत्वात्, तदभावादिष्टसिद्धेरभावात् । विस्मयाजनकत्व प्रमेय-दोषः, स तु ब्रह्मणि नास्तीति तद्भक्त्यैवेष्ट सिद्धिरिति भावः ॥२॥ १०॥

(३) एव बहुविधायामद्भुतकर्मतायां व्याख्यातायां यथार्थज्ञानाभावे तत्सेवितुमशक्यमिति बाहिर्मुख्यम् । एवमप्यस्य न कार्यसिद्धिः, इति शिष्यधैर्यं दृढयितुं प्रकार विशेषमाह —

" यस्यामत – तस्य मत, मत यस्य – न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् " ॥३॥११॥

जातिगुणक्रियासंज्ञाभि. सर्वं वस्तु मत भवति । ब्रह्म तु जाति गुणक्रियासंज्ञाभिरपि न भवति मतम् । पूर्वोक्तप्रकार–चतुष्टय-मध्येऽन्यतम प्रकार. स्यान्मत भवेत्, स तु नास्ति– अनवगाह्य-माहात्म्यवत्त्वाद् ब्रह्मण• ।

मम ह्यनवगाह्यमाहात्म्य ब्रह्मेति–यो वेद ' तस्य मतम् ' अनव–गाह्यमाहात्म्यवत्त्वेन ज्ञातं चेज्ज्ञातं भवति–इति भाव । " यदा-यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावित. स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठता " मिति हि स्मृति – अनुग्रहेणैव मननं ब्रह्मण आह ।

अनवगाह्यमाहात्म्यवत्त्वाज्ञानाद् 'यस्य मत' ब्रह्म ' स न वेद ' । यथाकथंचिदवगाह्यमाहात्म्यं चेत् ब्रह्मैव न भवति, तस्य ज्ञानमपि ब्रह्मज्ञानं न भवति– इति, 'न वेद स' इति यदुक्तं तत्सुष्ठूक्तम् ।

"मनसैवानुद्रष्टव्य' मिति श्रुतौ मनसानुदर्शनमुक्त यत्तदेवरूपतयैवेति ज्ञेयम। इय च व्यवस्था सर्वत्रानुसन्धेया।

एव सामान्यज्ञानमद्धेनोक्तं, विशेषज्ञानमद्धेनाह — 'अविज्ञात 'मित्यादिना। विशिष्टज्ञानं बुद्ध्या भवति-इति विशिष्ट ज्ञानवन्तो बुद्ध्या 'विजानन्त' उच्यन्ते। तेषा ' मविज्ञातं ' बुद्ध्याऽनवगाह्यमाहात्म्यत्वादेव। " पराश्चि खानि व्यतृणत् स्वयभृस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इति हि श्रुति। लौकिकविज्ञान-प्रणाड्या विलक्षणा ब्रह्म-विज्ञान-प्रणालीत्युक्तम्।

ब्रह्म-विज्ञान-प्रणालीं प्रदर्शयति-' विज्ञातमविजानता 'मिति। विजानद्भ्योभिन्ना ' अविजानन्त ' उच्यन्ते। ते हि बुद्ध्यनुग्रहाभावेऽपि ब्रह्मानुग्रहेणानवगाह्यमाहात्म्यं ब्रह्मेति विजानन्ति, इति लौकिकेभ्यो भिन्ना भवन्ति। तेषां विज्ञानं ब्रह्मेति। एवं चानवगाह्यमाहात्म्य विषयमात्रनिष्ठो दोष, स तु ब्रह्मणि नास्ति. इति नासंभावनावकाशस्तत्रेति ज्ञेयम।

अनेन ब्रह्म-विज्ञाने प्रकार-नियमो नास्तीति व्याख्यानम् ॥३॥११॥

(४) अथैवं सत्यलौकिक प्रमाणानि वैयर्थ्यमापद्येरन्निति शङ्कां-अस्वातन्त्र्ये सति तथा भवति, स्वातन्त्र्ये तु नेति-परिहर्तुं स्वातन्त्र्य दर्शयति —

" प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं. विद्यया विन्दतेऽमृतम् " ॥४॥१२॥

स्वातन्त्र्य त्रिधा भवति—

अमृतत्व-लाभाद्वीर्य-लाभादमृत-लाभाच्च। तत्र जीवस्य स्वरूपस्थनायाममृतत्व-लाभो भवति। तस्यैव परमपुरुषोपायेन वीर्यलाभस्तथा तस्यैवाक्षरब्रह्मभावे ह्यमृत-लाभो भवति।

तथाचात्र निगमो भवति- " यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्त तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम, तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवते वीतशोक " इति। अत्र स्वरूपस्थत्वे दु:खाभावो

य उक्त' स एवामृतत्वम्। तथैव " नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादा"दिति श्रुतौ बलं वीर्यमिति पर्यायौ, तेन बलेनात्म-लाभ., आत्मना च हेतुना बल-लाभ इति। आत्मना बल-लाभोक्ति फलरूपादप्यात्मनोपेक्षया बलस्य फलरूपतां, आत्मन: साधनरूपतां च द्योतयितुम्। तेनात्म-लाभापेक्षया बल-लाभ उत्तमः। परब्रह्मा-पेक्षया फलरूपो भक्तिमार्ग उत्तमो यदा, तदा कर्मज्ञानाभ्यामुत्तमतास्य कैमुतिकन्यायेनानाहूतैवायाति–इति द्योतनेन स्वातन्त्र्यं द्योतयि-तुम्–" सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः, ते सर्वग सर्वत: प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति " इति। (उक्तम्)।

एतत्फल वीर्येण लभ्यम्। तथा "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः " तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृत " मिति श्रुतौ यदमृतं तदेव विद्यया विन्दते।

अयंभावः–प्रमाणेष्वलौकिकता स्वातन्त्र्य-द्योतिका, सा जीवात्म-ग्राहकत्वेन, ब्रह्मात्मक-ग्राहकत्वेन परमात्म-ग्राहकत्वेन च भवति। तस्मिन् सत्येव तत्र स्वातन्त्र्यम्। तच्चोत्तरोत्तरमुत्कृष्टमिति परमोत्तमस्वातन्त्र्यवत्वेन नालौकिकप्रमाणानां भक्तिमार्गे वैयर्थ्य-मपि तु ज्ञानमार्गे– इति सूचयितुं जीवात्म–ब्रह्मात्म-परमात्म-स्वरूपज्ञानानां फल-कथनमुखेन तारतम्य वदन्नाह —

' प्रतिबोध विदित'मिति। यस्य ' प्रतिबोध विदित ' मत च सोऽमृतत्व विन्दते। ' प्रतिबोधे'ति लुप्तविभक्तिक पदम्, अलौकि-कत्वद्योतनायैवं प्रयोग'। लौकिकाद्बोधात्प्रतिकूलो बोध प्रतिबोध.। यदा साधनैर्बुद्धिः प्रतीची भवति तदा प्रतिबोधमुत्पादयति, तेन प्रतिबोधेन विदित मत च यदा जीवात्मरूप भवति, तदा स अमृतत्व विन्दते।

मृत मृत्य्वात्मक दुःख तन्नास्ति यस्य सोऽमृत., तस्य भावोऽ-मृतत्व' दुःखाभावं विन्दते। 'विन्दत'इत्यनेन पुरुषार्थरूपता द्योतिता यावद दु'खं, स्वातन्त्र्यं न तावत्। तदभावे तु स्वातन्त्र्यमस्त्येवेति

विषये स्वातन्त्र्यात्तदधीने प्रमाणेऽपि तत्सम्बन्धात्स्वातन्त्र्यम्. येन तदितरविषयाकृष्ट न भवति–इति भावः।

तथा ब्रह्म-ज्ञानेन सुखं विन्दते तदेवाह :– यस्य 'विद्यया' ब्रह्मात्मरूपं विदितं मतं च सो'ऽमृत'मानन्दं 'विन्दते'। ब्रह्मानुग्रह-तप.सहकृतोपनिषदर्थ–भावनाजन्यं ज्ञानं विद्या। यद्यपि विद्य ब्रह्म–शक्तिर्भवति, तथापि जीवे ब्रह्मावेशेन तच्छक्तिराविशति। सा चाभेदज्ञानं जीवे जनयति, इति साध्यसाधनयोरत्रयमभेद-निर्देशो भवति। तथा विदितम अन्यमुखात, मत स्वात्मना'–इति विवेक येन विन्दते। तथा च दु खाभावापेक्षया सुखस्योत्कर्षः –इति यावद् दु.खाभावस्तावदस्वातन्त्र्यमेव, सुखे च स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति। पूर्ववदत्राप्यूह्यम।

तथैवात्मना वीर्यं विन्दते। तदेवाह '–' आत्मना विन्दते वीर्यम् '–इति। यस्यात्मना विदित, मतं च स वीर्यं विन्दते। करणभूतेन परब्रह्मणा विदित मन नान्येन। तस्य ज्ञानसाधनं मनन–साधनमात्मा यदा भवति तदा वीर्यं विन्दते। अन्येन जायमानं ज्ञानं वीर्यं न फलतीति। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वि वृणुते तनूं स्वाम्" इति हि श्रुतिर्यमात्मानमाह-स एवेहात्मपदवाच्य तेन, वीर्यं = विशेषेण ईरयति=क्षिपति सर्वा स्तुच्छतया तद् वीरम, "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मिति श्रुतौ परत्वेनोक्त ब्रह्म, तस्मिन्साधु यत्तद्वीर्यम्। तद्विन्दते।

तदत्र निगमः–"सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागा. प्रशान्ता., ते सर्वगं सर्वत प्राप्य धीरा युक्तात्मान· सर्वमेवाविशन्ति" इति। अत्र यो युक्तात्मत्वलाभपूर्वकः सर्वाविशः. स. वीर्येण विना न भवतीति–तद्वत्त्वेन वीर्यवन्तः। इति गणितानन्दापेक्षया वीर्यस्योत्कर्ष·। यावद् गणितानन्दस्तावदस्वातन्त्र्यमेव, वीर्ये च स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति। पूर्ववदत्राप्यूह्यम्।

तेन भक्तिमार्गे–अलौकिकप्रमाणानि तदा वैयर्थ्यमापद्येरन्यदा स्वातन्त्र्य तेषु न स्यात्! जीवात्मनस्तु परब्रह्म–सम्बन्धस्तथा

तद्रूपेन्द्रिय-सम्बन्धो वर्तते–इति स्वतन्त्रो जीवो भवति, तदा किमु वाच्य तद्रूपाणामिन्द्रियाणां तथात्वे ? इति न शङ्कावकाशः। 'आत्मना विन्दते वीर्यं 'मित्यस्य मध्ये निरूपणन्तु, उभयसम्बन्धाभिप्रायेणामृतत्व-लाभः। अमृतत्व-लाभश्च वीर्य विना न शोभते–इति। एवञ्चानमृतत्वमवीर्यमनमृतञ्च विषयनिष्ठो दोषः, स ब्रह्मणि नास्ति– इति नामभावनावकाशस्तत्रेति भावः।

एतावता ग्रन्थेन- निर्दुष्टप्रमाणेन निर्दुष्टमेव प्रमेयमधिगन्तुं शक्यन्नेतरत्–इति सिद्धम। 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाधिकरण' एवमेव सिद्धम् ॥ ४ ॥ १२ ॥

(५) ननु–उत्तरोत्तरस्वातन्त्र्य यदा, तदा साधन-दशायां भेदकं किञ्चित्स्यात्? तदभावे तु त्रयाणामैक्यं कुतो न? साधन भेदं बिना फल-भेदस्याप्रयोजकत्वात्, इति चेत्तत्राह – उत्कर्षम —

" इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥१३॥

इति द्वितीय खण्डः।

अत्र भेदक फलत्रयमुत्तरोत्तर उत्कर्षं भजत्तत्रतत्रोत्कृष्ट स्वातन्त्र्यं ज्ञापयति जीवात्मस्वरूप–ज्ञाने 'सत्यमस्ति' इति ज्ञान फलम्। ब्रह्मात्म–(स्वरूप– ज्ञाने तु महाविनष्ट्यभाव फलम्। परब्रह्मात्म-स्वरूपज्ञाने तु– अमृतीभाव' फलमिति व्याख्यातव्यम्।

'इहे'त्यधिकरणमाह– जीवाधिष्ठानशरीरमिति – जीवात्म-ज्ञाने योग्यताशालि विवक्षितम्। 'चेदिति' तस्य दौर्लभ्य द्योतयति। 'अवेदीत्' = स्वरूप ज्ञातवान् भवति यदि, तर्हि, 'अथ'= तदनन्तरं 'सत्यमस्ति' अस्य। यावत्स्वरूपस्थो न भवति तावदसदेवास्य सर्वमिति। एतच्चावान्तरं फलम्। परमफलन्तु पूर्वत्र व्याख्यातम। स्वरू-

पात्रस्थाने योग्यतामावहति- एतत्, तथाच साधन-दशाया सत्यं भेदक सिद्ध्यति। ब्रह्मात्म-ज्ञाने तु 'न चेदिहावेदीदि' त्यादिना भेदकमाह, इहेति ब्रह्मात्म-ज्ञाने योग्यताशालि शरीरं विवक्षितम् । 'चेदिति' पूर्ववत् । नावेदीत्= न परब्रह्मात्मानं ज्ञातवान् तर्हि 'महती विनष्टिः' वैदिककर्मफलाभाव.= नष्टि , स्वरूपेऽनवस्थानं विनष्टि' । ब्रह्मात्मत्वालाभो महती विनष्टिः । "आत्मलाभान्न परं" इति हि श्रुतिर्भवति ।

विनष्टिरिति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशो महता बाधकेन संसर्ग-उत्तरोत्तरं सन्तानजनकता-सूचनाय । ' न चेदादिहावेदीन्महती विनष्टि '-रिति प्रतिकूलमिदं वचनम् , महद् भय वज्रमुद्यत "मिति श्रुत्युक्त-महाभयात्मता या ब्रह्मधमस्तत्सूचनाय । अनुकूलवचनन्तु -'इह चेदवेदीन्महती हि लब्धि'रिति । तस्यावचनं गणितानन्दस्यापि दुःखाभावमात्रे पर्यवसानं द्योतयितुम । तथा चात्र साधन-दशायां ब्रह्मावाप्तिर्भेदिकेति सिद्ध्यति ।

अथ ब्रह्म-ज्ञाने भेदकमाह :-' भूतेषु भूतेषु० ' इत्यादिना । 'धीरा ' धियमीरयन्ति. ध्यानवन्तो वा ते । " अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते " इति " क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति "-इति श्रुतिस्मृत्युक्तदुःखगतिपरिनिष्ठितत्व-बोधनायाधिकारिविशेषणं ' धीराः' इति । भूतेषु भूतेष्विति वीप्सा साकल्यमाह भूतानाम । विचित्य = चितित्वा = सम्यग् ज्ञात्वा । सर्वक्षमतामपराधमात्रे द्योतयितुमिदमुच्यते । तत्रापि विशेषो व्युपसर्गेण द्योत्यते । सर्वभूतहिते रतत्वं हि विशेष ।

तथा चायमभिसंवन्ध - ये अमृता भवन्ति ते भूतेषु भूतेषु विचित्य, अस्माल्लोकात्प्रेत्य च भवन्ति । 'अस्माल्लोकात्प्रेत्येति' तेषां भवान्तर-प्राप्ति सूचिता । भूतेषु भूतेषु विचित्येति साधनवर्गः । 'अमृता भवन्ति' इति मृत मरण न विद्यते येषान्ते, अमृताःदुःखाभाववन्तः । तथा चात्र साधन-दशायां दुःखाभावो भेदक इति सिद्धम ।

एवञ्च जीवात्म-ज्ञाने यत्परमफलं दुःखाभाव , स हि ब्रह्मात्म-ज्ञानेऽवान्तरफलम । यच्च ब्रह्म-ज्ञानेऽमृतीभाव परमफलं, स (परम)

आत्मज्ञानेऽवान्तरफलमिति परमफलरूपतयाऽऽत्म-लाभे परमोत्कर्ष.। एवं साधनोत्कर्षः फलोत्कर्षे प्रयोजको निरूपित ।

तथा चासत्व, महाविनाश-हेतुत्वं, प्रेत्यभावाभावहेतुत्वञ्च विषयानुत्कर्ष-हेतव । तदभावाद् ब्रह्मणि नासंभावनावकाश इति सिद्धम् । भक्त्यैव सर्वेषामुत्कर्ष , तत्रैव च सर्वेन्द्रियाणां सार्थक्यम्, अत्रैव विषय उत्कर्ष इति च ॥५॥१३॥

कारिका —

विषये दोषतो बुद्धौ दोषस्तस्मात्तु जायते—
सर्वासंभावना मेये, भक्तौ सा न ह्यदोषतः ॥१९॥

—०—

इति सामवेदीय-केनोपनिषन्मनस्विन्यां द्वितीय खण्ड ॥

तृतीयः खण्डः ।

※

कारिकाः —

अन्यथाख्याति-पक्षेण यदि दोषाः प्रमेयके ।
तर्हि भक्तौ कथमपि ब्रह्मदोषाः समागताः ॥२०॥
इति तेषां निवृत्त्यर्थं प्रसङ्गोऽत्र निरूप्यते ।
ब्रह्मणोऽन्येषु धर्माणामुत्कृष्टानामभावतः ॥२१॥
नाल्पारोपोऽन्यथाख्यातावन्यख्यातिः कृतान्ततः ।
तत्र ब्रह्मणि दोषस्तु न कथञ्चित्प्रसज्यते ॥२२॥
जीवाः स्वभावतो दुष्टास्तदभावाय यद्भवत् ।
प्रकटं तु तदा तेषामभावो, नान्यथा भवेत् ॥२३॥
देवेषु ब्रह्म-विज्ञानादुत्तमा अमरास्त्रयः ।
अग्निर्वायुस्तथेन्द्रश्च, तेषूत्कर्षो बृहत्कृतः- ॥२४॥
भक्तेराश्रयणादेव जातोऽन्येषां तु का कथा ।
इति ज्ञापयितु देवाख्यानमत्र निरूपितम् ॥२५॥
भक्तौ दोषोऽभिमानस्तु तत्रोपायोऽस्वतन्त्रता ।
नार्याःसा प्राप्यत इति सङ्गो देव्याः कृतोऽन्ततः ॥२६॥
बाहिर्मुख्यं च माहात्म्याज्ञानं द्वाभ्यां निरूपितम् ।
वह्निवायु-प्रसङ्गश्च चतुर्भिर्द्विर्निगद्यते ॥२७॥
काल कर्म स्वभावाख्या' दोषाश्चत्वार इत्यतः ।
इन्द्रे कालकृतो दोष एको ह्येकेन तत्कथा ॥२८॥
दोषाभाव उमादेव्या कृतः, एकेन वर्णितम् ।
तद्दर्शनं द्वादशभिस्तृतीयः खण्ड उम्भितः ॥२९॥

नन्वेते धर्मा ब्रह्मणि न वास्तवा "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" इति श्रुतिविरोधात्, अन्यगता एवास्मिन्भासन्ते- इति भ्रमविषये रजते यथेन्द्रियप्रवृत्ति, एव पूर्वखण्डे साधितानामलौकिकानां प्रमाणानामसम्भावनाविषयेऽपि भ्रम-विषये ब्रह्मधर्मे प्रवृत्ते. पुनरधिष्ठान ज्ञानोत्तरकालं शुक्ति-ज्ञाने तुच्छता-बुद्धिवत् ब्रह्मणि विकारे ज्ञातेऽनुपास्यत्व-बुद्ध्युदयेन, कथ प्रमाणसिद्धाया भक्ते तत्र सञ्चार ? इति- पूर्वखण्डेन समर्थितमपि, ऊषरे वर्षितमिव जातमिति चेत् —

अत्र भवान्प्रष्टव्य - अन्यगता धर्मा ब्रह्मणि भासन्ते' इति यदुक्त तल्लोक-कल्पनानुसारेण, आहोस्विद्वेदाविरुद्धकल्पनानुसारेण ?

तत्र नाद्य लोके तावद् व्यवहारे- उत्कृष्टसत्ताकवस्तुगता धर्म-सदृशा एव धर्माः, दोषवशाद्रजताद्यधिष्ठानशुक्तौ प्रतीयन्ते- इति दृष्ट, तदत्र विषमम् । नहि ब्रह्मापेक्षयोत्कृष्ट वस्तु, यद्गता धर्मा ब्रह्मणि प्रतीयेरन्, श्रुति-विरोधात् । तथा हिरण्यायनीयानां खिलेषु पठ्यते —

" ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिव समाततान,
ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे, तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः । "इति ।

अस्यार्थस्तु -'ज्येष्ठा वीर्या' इत्यत्र बहुवचनस्य डादेशः, तेन-ब्रह्म ज्येष्ठं मुख्यं, तेषां तादृशानि वीर्याणि ब्रह्मणा सम्भृतानि, सम्यगन्यनैरपेक्ष्येण स्वत एव धृतानि, तथा ज्येष्ठं ब्रह्म अग्रे देवादि-जननात्पूर्वमेव दिवमाततान= द्युलोकं व्याप्तवत् । तथाभूतानामाका-शादीनामुत्पत्ते प्रथममेव तु ब्रह्म जज्ञे = आविर्बभूव, तेनैतादृश महिमवत्त्वेन ब्रह्मणा साकं स्पर्धितुं कोऽर्हति ? इति ।

तेनेद मिद्धम् :-अत्र लोके तिस्रो देवता महनीया गुण-वत्यश्च, इन्द्रो वायुरग्निश्च । एता यदा " वेधाद्यर्थभेदाधिकरणो-क्तरीत्या " ब्रह्मसम्बन्धादेव तद्विभूतित्वेनोत्कर्षं प्राप्तास्तदा ताभ्यो-न्यग्भूतानामर्थानां कथ ब्रह्मणि धर्मारोप. ? येन पूर्वपक्षोद्भावनेन पूर्वसमर्थित प्रत्युक्तं स्यात् ।

नापि द्वितीयः- भवत्पक्ष-समर्थन-समर्थाया श्रुतेरेवाभावात् । वक्तव्या चेत् ? यस्यां- शुक्तिरजत-दृष्टान्तेन यत्र ब्रह्मधर्मणामवास्तवत्त्वमुक्तं स्यात । इदन्तु परमतरीत्योक्तम् ।

सिद्धान्ते त्वन्यख्यातिवाद.- तत्र माया बुद्धिं वहि क्षिपति. तद्विषयीभूत वृत्तिभृतं रजतं वहिः प्रतीयते । न शुक्तौ रजतमन्यदिद रजतमिति । एवं प्रकृते ब्रह्मण्यपि मन्तव्यमिति न कश्चन दोष । आत्मख्यातितो योऽस्यां दोष. सः ख्यातिवादे द्रष्टव्य. ।

तस्माद्विपरीतभावना-निवृत्ति-द्वारा ब्रह्मणः साधनफलरूपतां बोधयितुमिदं खण्डद्वयमारभ्यते ।

तत्र सर्वेभ्योऽप्युत्तमास्य एताभ्योऽग्नीन्द्रवाय्वात्मिकाभ्यो देवताभ्यो ब्रह्म उत्कर्षवदिति, आख्यायिका-मुखेन बोधयितुमाख्यायिकामाह .—

" ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये-
देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्तास्माकमेवायं-
विजयोऽस्माकमेवाऽयं महिमेति " ॥१॥१४॥

यत्सर्वेभ्य उत्कृष्टत्वेन बृहत् सर्वोत्कर्षाधायकत्वेन बृंहणं परमार्थरूप वस्तु तद्'ब्रह्मेति'. तद्धि 'ह' प्रसिद्ध कर्तृ ' देवेभ्यो विजिग्ये '= देवार्थं च जयमुद्भावितवत । विजयो नाम सर्वोत्कर्षेण स्थितिः । 'मम सर्वोत्कर्षेण स्थितौ मद्विभूतीनां मदवयवानां वा स्वत उत्कर्ष: इति- ईक्षां यदा प्रादुश्चकार, तद्देवासुरा: प्रतिपेदिरे= 'सुराणां पक्षे ब्रह्मेति, न वय तैर्योद्धुं प्रभवाम - इति निश्चयवन्तो युद्धान्निवृत्ता.' यदा तदा ब्रह्म विजिग्ये । इत्यन्यबुद्ध्यनुवादोऽयम् ।

एतेन ब्रह्मणि य उत्कर्षाधायका गुणास्ते स्वोपासकानामुत्कर्षनिष्कर्षमेवेति बोधित ' देवेभ्यो विजिग्ये ' इत्यनेन । ' तस्य ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त' = ते देवा. स्वापकर्षं ब्रह्मण्यारोप्य ब्रह्मगतमुत्कर्षमात्मनि भावयमाना .तेनाजये रात्र स्वजयवत्स्वस्मिन्प्राधान्यबुद्ध्या, ब्रह्मणि गौणबुद्ध्या ' वयं जिता ' इति बुद्धिं यदा कृतवन्तस्तदाऽन्यस्य ब्रह्मणो जये देवा अमहीयन्त- ' वयमेव

सर्वोत्कर्षशालिन '- इत्यभिमत्य स्वापकृष्टान्मनुष्यादीन् वरै प्रलोभ्य पूजां कारितवन्त ।

' स्वातन्त्र्य साधनभक्तिमार्गे दोषः- इति स्वतन्त्रतां सूचयितुं ' देवा ' इति पुंस्त्वेन निर्देश. ।

एतादृशसत्कृत्या यादृश बाहिर्मुख्यं भक्तानामपि देवाना मम्पन्न तदनुवदन्त्याह -' त ऐक्षन्त 'आलोचितवन्तस्ते । आलो-चनाप्रकारमाह-' अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवाय महिमेति '। अयमसुर-पराजयरूपो विजयः सर्वोत्कर्षेण स्थित्यात्मक सोऽस्मा-कमेव, आस्माकीन. स्वाभाविको धर्मः, नात्र कस्यचित्कारणतेति । तथा पूज्यत्व-प्रयोजिका सर्ववस्तु-समृद्धिरपि, आस्माकीनस्वाभा-विकधर्मप्रयोज्यत्वाद्धर्मे नातिचरतीति ।

एतेन " जीवाः स्वभावतो दुष्टा.- " इति सिद्धान्तो बोधित' । अभिमानसप्रतिबन्धकता भक्तिमार्गे, इति चापि सूचितम् ॥१॥१४॥

एवं जीवानां दोष-निधित्व स्वभावत उक्त्वा, स्वानन्द-दानेऽधिकृतानां सर्वेषां परोक्षे प्रियकारित्वं ब्रह्मणि बोधयितुं-जीवदोषात्तेषामकृतार्थतां मत्वा कृपाविष्ट ब्रह्म तद्दोष-निवृत्त्यर्थं प्रादुर्भवतीत्याह :—

" तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानत-किमिदं यक्षमिति " ॥२॥१५॥

' तदेव 'निरुपधिकृपाशेवधितया यत्प्रसिद्धं, ' एषां 'देवानां सम्बन्धिन दोषं ' विजज्ञौ 'ज्ञातवत् । दोषस्याकीर्तनतयाऽध्या-हार्यतां सूचयन्ति सम्बन्धिमात्र-निर्देशेन । परस्मैपद-प्रयोगेण ज्ञानफलस्य देवगामिता बोधिता । यदा कृपयाऽऽलोचित-'दोषो निरसनीय इति, तदा ' तेभ्य ' तदर्थमेव ' प्रादुर्बभूव '। एवं तद्दोषस्यातिप्रबलतया ब्रह्ममात्रनिरसनीयता-द्योतनेन भक्त-दोषाणामन्याप्रतीकार्यता, आधिदैविकता च सूचिता ।

एवं स्वकृपया दोषं व्यापादयितुं प्रकटमपि ब्रह्म, जीवा.

स्वभाववशान्न जानन्ति- इत्याह :-' तन्न व्यजानत, किमिद यक्ष-मिति। ब्रह्म-विमुखानां, नाम न ग्राह्यमिति- देवानामध्याहार्यतां सूचयति। ' तत् 'ब्रह्म कर्म, ते देवा अभिमानदोषान्न व्यजानत। विशेषज्ञान-जनिकायाः सामग्र्या ब्रह्मज्ञानौपयिक्या अनुपस्थित्या, सामान्यज्ञान भगवत्सान्निध्याज्ज्ञातमितिकृत्वा जानन्तोऽपि ' इद यक्ष किमिति ? ' विशेषाकारेण न व्यजानत। माहात्म्यज्ञान भक्तौ कारण, तदेव तेषा तिरोहितमित्युक्तम ' यक्ष'मिति यजतेः कर्मणि प्रत्ययः। देवानां स्वस्मिन्नुत्कर्षभावनया यजनीयता-बुद्धिर्याऽऽदिता, तस्या निरासो येन सजातीयेन ब्रह्मणो रूपेण भवति, तद्दोष-निरासार्थ रूप 'यक्ष' मित्युच्यते ॥२॥१५॥

एवं देवा यदा प्रादुर्भूतस्य ब्रह्मणो रूप न व्यजानत, तदा स्वापेक्षयोत्कृष्टान् देवानपृच्छन्। अस्मासु त्रय उत्कर्षशालिनस्तत्त्वविद. उपासनोपयोगिनश्च, अग्निर्वायुरिन्द्र-श्चेति तेषां बुद्धि -अग्निर्वागधिष्ठात्री देवता. स्वाध्यात्मरूपेण कीर्तन उपयोगिनी। वायुस्त्वगिन्द्रियाधिष्ठात्री देवता- स्वाध्यात्म-रूपेणोपासनोपयोगिवस्तूनां मार्दव-काठिन्य-खरत्व-शीतत्वादि-ज्ञान उपयोगिनी। इन्द्रस्तु हस्तेन्द्रियाधिष्ठात्री देवता साक्षात्परि-चर्योपयोगिनी स्वाध्यात्मरूपेणेति, तान्पृच्छन्ति :-

तत्र क्रमेण देवप्रश्नाह :—

" तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद ! एतद्विजानीहि—
किमेतद् यक्षमिति ? - तथेति ॥३॥१६॥

' ते 'देवा अग्निमुक्तवन्तः। तेजसो हि विलक्षणा गतिरिति, विलक्षणगतिमत्त्वेन वस्तु-याथात्म्यावगमे सामर्थ्यं तव, तथा त्वं जातवेदा जात वेदो धन ज्ञानं वा यस्मात। पराक्रमेणाशक्यं तदुपायेन शक्यम। उपायस्तु बुद्ध्या, धनेन वा भवति, वागधिष्ठा-तृत्वेन स्तुतिद्वारा धनहेतुत्वम। तेजस्वित्वेन- आलोकद्वारा चाक्षुषज्ञाने सहकारित्वमिति सूचितम।

ब्रह्म ज्ञातवतामप्येषां देवानां बुद्धिरन्यथा जाता। केवलज्ञानिनः

परब्रह्म तत्त्व न याथार्थ्येन विदन्ति-इति सूचनाय, सा तु ब्रह्मणैव स्वमाहात्म्य-ज्ञानपूर्विकां भक्तिमुत्पादयितुं कृतेति ध्येयम् ।

'विजानीहि किमेतद् यक्ष'मिति-विशेषतोऽवगच्छेत्युक्तेऽग्निरभिमानदोषवत्तया. सर्ववस्तु-याथात्म्यावगमे समर्थोऽस्मि-इति धार्ष्ट्येन देवोक्तमङ्गीकृतवान् । तदाह-'तथेति'। यथा भवन्तो जानन्ति तथैव मयि वीर्यम्, नात्रासंभावना कार्या, वदाम्येतस्य तत्त्व व -इति- अङ्गीकाराकार· ।

देवा· सर्वे सम्वत्सरात्मकप्रजापतेरङ्गभूताः, ते सर्वैर्मिलित्वोत्पादितो दोष कालकृत एव भवति-इति । अय कालकृतोऽग्नौ दोषो निरूपित· ॥३॥१६॥

अङ्गीकारोत्तरकाल यत्कृतवाँस्तदाह :—

"तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्- कोसीति ?

अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति" ॥४॥१७॥

'तदिति' नपुसक-निर्देशेन यक्षेऽग्नेस्तुच्छत्व बुद्धिर्जातेति द्योतितम् । तस्याभिमुख्य भजन्नद्रवत् । द्रवणं नाम कार्य सिद्ध्यनुकूलस्वारस्योद्भावन, तदकरोत् । स्वारस्य एतदन्तर्भावयिष्यामीति-कार्यं कर्तुं व्यवसितमग्नि तद्दोषाववोधाय ब्रह्म तदाभिमुख्यं भजन्तमवदत्-' कोऽसीति ?' एतावद्धार्ष्ट्यमवलम्ब्य मदाभिमुख्य भजमानः कोऽसि ? वद, स्वतत्त्वम् । प्रश्नेन स्वमाहात्म्य गोपयत् तद्दोष दार्ढ्यं जनयति ।

एवं पृष्टे स उवाच-'अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीत्' । अग्निरिति यथार्थनामा, विलक्षणगतिमत्त्वेन सर्ववस्तु-याथात्म्यावगमे सामर्थ्यवान् । नैतद्विकत्थनमात्रम, किन्तु निश्चितमिति 'वा'शब्दमाह । परज्ञानमुक्तमेतेन । स्वेन प्रमाद-पारवश्येन यदीदं कृतं तर्हि स्वकार्य-प्रवृत्तिजनक न भवति- इति स्वज्ञानमाह-' अहमस्मीति' 'अब्रवीत्' । पराक्रमे सत्यप्युपायो न चेत् कार्यं प्रतिरुद्ध स्यादिति शङ्का-निरासायाह -'जातवेदा अहमस्मीति' । व्याख्यातमिदम् ।

स्यात्मगतोऽहमाख्यो दोषो निरूपित. ॥४॥१७॥

एवं पृष्टेऽपि–अहमाख्यो दोष परिपुष्ट एव जात . तस्य नैयून्यं यथाकथञ्चित्तन्माभूदित्येतदर्थमजानदिव पुन प्रश्नमाह :– उद्भावित. समग्र एव दोषो निराकार्य इतिभावेन प्रश्न·—

" तस्मिंस्त्वयि किम्वीर्यमित्यपीदं

सर्वं दहेयं– यदिदं पृथिव्यामिति ॥५।१८॥

ममाभिमुखे स्थिते ' त्वयि तस्मिन् ' पूर्वोक्तरीत्या प्रसिद्धे किं वीर्यम् ? वीरेषु साधु वीर्यम । परोपकाराय विशिष्ट–दारात्मजवित्तप्राणादीनपि, ईरयन्ति= ते वीरा , तेषु परहितमपेक्ष्यैव यत्प्रतिबन्धक–निरासार्थमुत्साहविशिष्ट पौरुषमाविर्भवति. तदुच्यते–' वीर्य 'मिति । तदस्ति चेद्दर्शनीयमित्यभिप्रायः ।

एवमुक्ते प्राह :–' अपीदं सर्वं दहेय यदिद पृथिव्यामिति ' अपीति गर्हायाम । धिग् यन्मे तेज पश्यदधार्ष्ट्यमालम्ब्य पृच्छसि ? ' सर्वमिद दहेय 'मिति–वदामि वीर्यम् । अहंकारदोषेण स्वसामर्थ्यविषयमपि निर्दिशति– सर्वमिद'मिति । इदमिति बुद्ध्याकलितम्. सर्वमिति प्रत्यक्षमनुमितञ्चेति । तत्सर्वञ्चेद्दहेयमिति । एवमुक्तौ यदि तथा न जात तर्हि– अकीर्तिर्भविष्यति–इति सावधानतयाऽऽह–' यदिदं पृथिव्यामिति ' । पृथिवीमधिकृत्यैव, जलस्य वाष्परूपता–सम्पादने सामर्थ्यमिति । ' यदिद दृश्यते ' तत्सर्वं दहेय'मिति । अयं स्वभावदोषो व्याख्यातः ॥५॥१८॥

एवं दोषस्य सर्वथाऽनपनोद्यतां दृष्ट्वा दयालुतयाऽनायासेन दोष दूरीकर्तुं, येन वीर्येणैव गर्वित. स तृणादपि–अल्पतमस्त्वमिति–स्वाभिप्रायं द्योतयितुमग्नेरग्रे तृण तत्सामर्थ्यपरीक्षार्थं निदधौ, इत्याह .—

"तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय—

सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं, स तत एव निववृते,

नैतदशकं विज्ञातुं– यदेतद्यक्षमिति" ॥६॥१९॥

तथक्ष 'तस्मै'=अग्नये 'तृणं निदधौ' अग्रे स्थापितवत्। निधाय चैतदब्रवीत्–' एतद्दहेति '। तस्मा इति उद्देश्यतामाह–यदि तृणमपि दहेस्तर्हि–एतत् तृणं तुभ्यमेव ददानि। क्षुद्रस्य तदपेक्षया महति दत्ते संतोष, एतदपेक्षयापि-अल्पतमोऽस्मि, इति। अल्पदाहे तव तुष्टिः सेत्स्यति–इति सूचनार्थम्। 'तृण'मिति– मदभिप्रायेण तु तव दोषभक्षकम्, त्वदभिप्रायेण– त्वयाऽदनीयम्। 'तृण निदधा'वित्यनेन पशुर्यथा सर्वानविशेषेण पश्यति, स तृणार्हस्तथा मन्महिमान न जानन् पशुरसि–इति बोधितम्। 'निदधौ' निश्चित्य स्थापितवत्। नाऽलमयमेतस्य दहनायेति। 'एतद्दहेत्यब्रवीत्। 'एत'दिति नि सारतामाख्यातु नपुसक–निर्देश।

इत्युक्ते सोऽग्निर्दोषाविष्टः सन्-'तत्=नि सारम्, अग्न्यभिप्रायेण, वस्तुतस्तु "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत." इति ब्रह्म–निर्देशकेन निर्दिष्टमिति–ब्रह्माविष्ट तृणमुपेति, अधिक्यं ब्रह्मावेशादेव। 'उपप्रेयायेति' प्रकृष्टगमनवानभूत्। किमेतेन? ससारं वस्तु परित्यज नि सारं वस्तु मदग्रे स्थापित न किञ्चिदेतत्' तद्दर्शयामि स्ववीर्यमिति–महतोत्साहेन गमनं प्रगमनम्।–सर्वजवेन'इति सर्वजवोपलक्षित प्रगमन कृतवानित्यर्थ.। आवेशेनोद्गतं पौरुष कार्यमिति शैघ्र्येण समापयितु सर्वाङ्गेषु रहो जनयति तदुपलक्षितम्। एवं सर्वक्रोधेन सर्वोत्साहेन चित्त समुन्नत्यापि द्रष्टव्यम।

एवकृते यज्जात तदाह 'तन्न शशाक दग्धुम्'। तद्दग्धु न शशाक। तत्तुच्छमपि वस्तुतो ब्रह्माविष्टं भस्मीकर्तु न शशाक। तदत्रागमो भवति.–"न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वं मिद विभाति' इति। स्मृतिश्चापि भवति–"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' इति। यत्तेजः स्वमग्नौ निहितमस्ति तदुपसंहृतमिति– 'तन्न शशाक दग्धु'मित्यनेन द्योतितम, तृणे च समाहितमित्यपि बोध्यम।

यदा ब्रह्माविष्टस्य तृणस्य दहनाय न प्रभुस्तदा 'स तत एव निववृते'। स' इति स्मरणाऽर्होऽग्नि। तत एव=तृणादेव, निववृते=

निवृत्तः। अग्निना सर्वजवेनाक्रान्तेऽपि तृणे कश्चन विकारोऽपि न जातः– इति सूचनाय ' तत ' इति अविकृतत्वेन निर्देशः। पूर्वकाले मलिनस्यापि हेम्नोऽग्निसम्पर्कोत्तरकालमविकृतता भवति, तादृश्या व्यवच्छेदार्थमेवकारः। पूर्वभावादपि न प्रच्युतं तत्– इति निववृते। इति कार्याप्रसिद्धिः सूचिता।

एवमनायासेन यदा कृपया ब्रह्मणा गर्वाख्यो दोष परिहृतस्तदा माहात्म्य-ज्ञानवानाह देवान्प्रति। किमित्याह—तन्निर्दिशति– 'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति' गतदोषस्य दैन्याविष्टस्य वचनमिदम् :–एतद् विज्ञातु नाशकम। अहमाख्यो दोषो निवृत्तः, दैन्यावेशः सम्पन्न इति सूचयितु गम्यमानमहंभावमाह, न मुखत उदाजहारेति–अशकमित्युक्तम्। विशेषाकारेण तद्विज्ञाना– भावार्थमाह– ' तद्यक्षम् ' इति। विस्मयः– यस्मात्कारणान्न मे विज्ञानं तत् कारणं किम ? इति माहात्म्यवत्त्व-द्योतनार्थ उक्तः। एतद्यक्षमिति विशेषाकारो विज्ञानस्य, इति। एतावता विमुखा अल्पमपि कार्यं कर्तुं न प्रभवन्ति। तेन प्रकृतोपयोगि यद्वाच्यं– ' ब्रह्म-धर्मा एवान्यत्र, नान्येषां ब्रह्मणि ' इति, तत्समर्थितम्।

यदावेशमन्तरा देवेभ्यः प्रकृष्टस्यापि जातवेदसो न तृणदाहे सामर्थ्यं जातं, तस्मिन्कथमन्यधर्मारोपः कर्तुं शक्य इति न तत्र विपरीतभावनावकाशः। इति, ब्रह्माज्ञया यत्कर्तव्यत्वेन चोदितं तत् कर्मकृतो दोष इह वर्णित ॥६॥१९॥

अथ क्रमप्राप्तं स्वेभ्य उत्तमं त्वगिन्द्रियाधिष्ठातारं स्वाध्यात्म-रूपेणोपासनोपयोगिसर्ववस्तूनां मार्दवादिज्ञान उपयोगिनं वाय्वाख्यं देवमग्न्यापेक्षयाप्युत्तमम, अग्नेः प्रादुर्भूतयक्षस्वरूप-विज्ञानेऽसामर्थ्यमालोच्य देवा अब्रुवन्निति-आह :–

" अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि–
किमेतद्यक्षमिति ?– तथेति " ॥७॥२०॥

व्याख्या पूर्ववत्। चत्वारो दोषा अत्र पूर्ववत् क्रमशो व्याख्येयाः। विशेषपदानि व्याख्यायन्ते :–' अथे 'ति, अग्नि-प्रतिप्रश्नेऽपि याथा-

तद्यक्ष 'तस्मै'=अग्नये 'तृणं निदधौ' अग्रे स्थापितवत् । निधाय चैतदब्रवीत्–' एतद्दहेति ' । तस्मा इति उद्देश्यतामाह–यदि तृणमपि दहेस्तर्हि–एतत् तृणं तुभ्यमेव ददानि । क्षुद्रस्य तदपेक्षया महति वस्ते संतोष , एतदपेक्षयापि -अल्पतमोऽसि, इति । अल्पदाहे तव तुष्टिः सेत्स्यति–इति सूचनार्थम् । 'तृण'मिति– मदभिप्रायेण तु तव दोषभक्षकम्, त्वदभिप्रायेण– त्वयाऽदनीयम् । ' तृण निदधा'वित्यनेन पशुर्यथा सर्वानविशेषेण पश्यति, स तृणार्हस्तथा मन्महिमान न जानन् पशुरसि–इति बोधितम् । ' निदधौ ' निश्चित्य स्थापितवत् । नाऽलमयमेतस्य दहनायेति । ' एतद्दहेत्य-ब्रवीत् । ' एत'दिति नि सारतामाख्यातु नपुसक–निर्देश ।

इत्युक्ते सोऽग्निर्दोषाविष्टः सन्-'तत्=नि सारम्, अग्न्यभिप्रायेण, वस्तुतस्तु " ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत " इति ब्रह्म–निर्देशकेन निर्दिष्टमिति–ब्रह्माविष्ट तृणमुपेति, अ धिकयं ब्रह्मावेशादेव । 'उपप्रेयायेति' प्रकृष्टगमनवानभूत् । किमेतेन ? ससारं वस्तु परित्यज नि सारं वस्तु मदग्रे स्थापित न किञ्चिदेतत् ' तद्दर्शयामि स्ववीर्यमिति–महतोत्साहेन गमनं प्रगमनम् ।–सर्व-जवे न'इति सर्वजवोपलक्षित प्रगमन कृतवानित्यर्थ । आवेशेनोद्गतं पौरुष कार्यमिति शैघ्र्येण समापयितु सर्वाङ्गेषु रह्यो जनयति तदुपलक्षितम् । एवं सर्वक्रोधेन सर्वोत्साहेन चित्त समुन्नत्यापि द्रष्टव्यम ।

एवकृते यज्जात तदाह 'तन्न शशाक दग्धुम् ' । तद्दग्धु न शशाक । तत्तुच्छमपि वस्तुतो ब्रह्माविष्टं भस्मीकर्तु न शशाक । तदत्रागमो भवति '–" न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वं मिद विभाति' इति । स्मृतिश्चापि भवति–"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ' इति । यत्तेजः स्वमग्नौ निहितमस्ति तदुपसंहृतमिति– ' तन्न शशाक दग्धु 'मित्यनेन द्योतितम् , तृणे च समाहितमित्यपि वोध्यम ।

यदा ब्रह्माविष्टस्य तृणस्य दहनाय न प्रभुस्तदा ' स तत एव निववृते' । स' इति स्मरणाऽर्होऽग्नि । तत एव=तृणादेव, निववृते=

निवृत्तः। अग्निना सर्वजवेनाक्रान्तेऽपि तृणे कश्चन विकारोऽपि न जातः- इति सूचनाय 'तत' इति अविकृतत्वेन निर्देशः। पूर्वकाले मलिनस्यापि हेम्नोऽग्निसम्पर्कोत्तरकालमविकृतता भवति, नादृश्या व्यवच्छेदार्थमेवकार.। पूर्वभावादपि न प्रच्युतं तत्- इति निवर्तते। इति कार्याप्रसिद्धिः सूचिता।

एवमनायासेन यदा कृपया ब्रह्मणा गर्वाख्यो दोष परिहृतस्तदा माहात्म्य-ज्ञानवानाह देवान्प्रति। किमित्याह—तन्निर्दिशति- 'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति' गतदोषस्य दैन्याविष्टस्य वचनमिदम् :-एतद् विज्ञातु नाशकम। अहमाख्यो दोषो निवृत्तः, दैन्यावेशः सम्पन्न इति सूचयितु गम्यमानमहंभावमाह, न मुखत उदाजहारेति-अशकमित्युक्तम्। विशेषाकारेण तद्विज्ञाना-भावार्थमाह- 'तद्यक्षम्' इति। विस्मयः- यस्मात्कारणान्न मे विज्ञानं तत कारणं किम ? इति माहात्म्यवत्त्व-द्योतनार्थं उक्त.। एतद्यक्षमिति विशेषाकारो विज्ञानस्य, इति। एतावता विमुखा अल्पमपि कार्यं कर्तुं न प्रभवन्ति। तेन प्रकृतोपयोगि यद्वाच्यं- 'ब्रह्म-धर्मा एवान्यत्र, नान्येषां ब्रह्मणि' इति, तत्समर्थितम।

यदावेशमन्तरा देवेभ्य. प्रकृष्टस्यापि जातवेदसो न तृणदाहे सामर्थ्यं जातं, तस्मिन्कथमन्यधर्मारोपः कर्तुं शक्य इति न तत्र विपरीतभावनावकाशः। इति, ब्रह्माज्ञया यत्कर्तव्यत्वेन चोदितं तत् कर्मकृतो दोष इह वर्णित ।।६।।१९।।

अथ क्रमप्राप्तं स्वेभ्य उत्तमं त्वगिन्द्रियाधिष्ठातारं स्वाध्यात्म-रूपेणोपासनोपयोगिमवेवस्तूनां मादेशादिज्ञान उपयोगिनं वाय्वाख्यं देवमग्न्यापेक्षयाप्युत्तमम्, अग्नेः प्रादुर्भूतयक्षस्वरूप-विज्ञानेऽसामर्थ्यमालोच्य देवा अब्रुवन्निति-आह :-

" अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि-
किमेतद्यक्षमिति ?- तथेति " ।।७।।२०।।

व्याख्या पूर्ववत्। चत्वारो दोषा अत्र पूर्ववत् क्रमशो व्याख्येयाः। विशेषपदानि व्याख्यायन्ते :-' अथे 'ति, अग्नि-प्रतिप्रश्नेऽपि यथा-

त्म्यावगमने सामर्थ्यमविभाव्य वृथास्याभिमान इति-ज्ञानानन्तर मित्यर्थ.। ' वायु ' मिति वाति सदा सर्वत्र गतिमान् भवति, निरालम्बेऽपि नभसि- अय स्वाश्रयश्चलति-इति वायुः। विशिष्टज्ञानवानेव विशिष्टक्रियाशक्तिमान् भवति। अग्नि-पक्षश्चायमित्यभिप्रायेण ' तथे 'त्यङ्गीकार ॥७॥२०॥

अङ्गीकारोत्तरकालं यत्कृतवॉस्तदाह :—

" तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् – कोसीति ?

वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवोन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति "

॥८॥२१॥

व्याख्या पूर्ववत्। सर्वत्र गतिमानहम्। चरणराहित्येऽपि सर्ववस्तुप्राप्तौ न मे कश्चन विलम्ब इति-सूचितम्। ' इति 'लोकविलक्षणताऽपि तथा। मातरिश्वा चाहं निरालम्बे आकाशे वृद्धिमेव यामि, न तु क्षयमिति गुण, पूर्वविशेषणेन दोषाभाव (श्च) उक्तः। स्वरूप रहितमपि वस्तु मम वृद्धिकरं, तदा स्वरूपविशिष्टं किमु वक्तव्यमिति भावं द्योतयति। ८। २१॥

एवं पृष्टेऽपि- अहमाख्यो दोषः परिपुष्ट एव जातस्तस्य नैयून्यं यथाकथञ्चिन्मा भूदित्येतदर्थमजानदिव पुनः प्रश्नमाह —

" तस्मिᳪस्त्वयि किंवीर्यमित्यपीदᳪ सर्वं—

माददीयं यदिदं पृथिव्यामिति " ॥ ९ ॥ २२ ॥

व्याख्या पूर्ववत्। ' आददीय ' सर्व वस्तु विकीर्णमेकत्र कुर्याम्, एकत्र स्थितं विकिराणि, ऊर्ध्वं नयामि, अधः पातयामि, 'इति' सर्वं वस्तु स्वाधीनं कुर्याम्। इति ॥९॥२२॥

एवं दोषस्य सर्वथानपनोद्यतां दृष्ट्वा कृपा- [दया] लुतयाऽनायासेन दोषं दूरीकर्तुं-येन वीर्येणैवं त्वं गर्वित

तत्तृणादपि अल्पता त्वयि-इति स्वाभिप्राय द्योतयितु ब्रह्म वायोरग्रे तृणं तत्सामर्थ्य-परीक्षार्थं निदधावित्याह —

" तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन-
तन्न शशाकादातुं, स तत एव निववृते,
नैतदशकं विज्ञातुं— यदेतद्यक्षमिति " ॥१०॥२३॥

व्याख्या पूर्ववत् । 'तन्न शशाकादातु'मिति । अत्रागमो भवति— " आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः " " अपाणिपादो जवनो गृहीता० " "यदिद किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति नि सृतम्०" "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा०" यो वायुमन्तरो यमयति०" इति । यदादान-सामर्थ्यं वायौ निहितं तदुपसंहृत, तृणे च समाहित-मिति बोध्यम् ।

उपसंहार उपयोगिता चाख्यानस्य पूर्ववद्बोध्या ॥१०॥२३॥

अथ क्रमप्राप्त स्वेभ्य उत्तमं हस्ते-न्द्रियाधिष्ठातारं स्वाध्यात्मरूपेण साक्षात्परिचर्योपयोगिनमिन्द्राख्यं देव, प्राणाज्जातस्य वायोः पोषकतया वृष्टि-प्रवर्तकत्वेनोत्तम, वृष्टि-सम्पादकम, अग्निदाह-शान्तिकरत्वेनाग्नेरुत्तमं, परमैश्वर्य-विशिष्ट, प्रादुर्भूतयक्ष-स्वरूप-विज्ञाने वायोरसामर्थ्यमाकलय्य देवाः पर्यपृच्छन्नित्याह :—

" अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि—किमेतद्यक्षमिति ।
तथेति, तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे " ॥११॥२४॥

वायु प्रति प्रश्नोऽपि— याथात्म्यावगमे तमसमर्थं विचार्य वृथास्याभिमान इति—ज्ञानानन्तरम्- इन्द्रं परमैश्वर्यविशिष्टत्वे ब्रह्मावेशिनं, वस्तु-याथात्म्यावगतौ सर्वथा समर्थं, पर्यपृच्छन् ।

तत्र प्रश्नाकारमाहुः— ' मघवन्नेतद्विजानीहि -- किमेतद्यक्ष-मिति ' । देवानामपि ब्रह्म-सान्निध्याद्दोप-स्फूर्तिरस्य जातेति, तथा सम्बोधयन्ति-मघवन्निति । मघमन्तमस्यास्ति स मघवान । 'वृष्टेरन्न'

भक्तिविशिष्टां विद्याधिष्ठात्रीं देवतां 'आजगाम' = तां विद्यामेवाचार्यरूपामासमन्ता त्प्राप्तवान्।

परतन्त्राया (विद्यायाः) शिष्योऽपि परतन्त्रो भवतीति–तदुपसत्त्या पारतन्त्र्यं गच्छँ 'स्तां ह्वोवाच किमेतद् यक्षमिति ?' प्रश्नं कृतवान्। तदेतदाह–'तां हे 'ति। तां = सर्वलोकवेदप्रसिद्धत्वेन ब्रह्मरूपान्तरम्, आचार्यरूपतयोपस्थिताम् 'हे 'ति–उपसत्ति–प्रसिद्धि कुर्वन् 'उवाच = पृष्टवानिन्द्र'। प्रश्नाकारमाह – 'किमेतद् यक्ष 'मिति। परिप्रश्नेनोपसंहारः शास्त्रार्थ–दाढर्चाय। तेन पारतन्त्र्यरूपो गुणश्चोक्त। सोप्यय ब्रह्मण एव गुणो भवति, "भर्ता सन्भ्रियमाणो बिभर्ति" इति हि समाम्नायः। सेव्य-गुणाविष्टेनैव सेवकेन सेव्यमाराधयितु शक्यमिति।

तथाचास्य ग्रन्थस्य प्रकृतार्थानुकूल्यमेवम् :—

पूर्वं देवानां पारतन्त्र्यमवस्थितम्। पुनर्ब्रह्मणो जयेन ब्रह्म–धर्मावेशात्तेषु स्वातन्त्र्यभाविर्भूतम्। पुनस्तस्य देवधर्मता मा भूदिति–यक्ष–धृततृणे स्वस्व– सामर्थ्यामूर्च्छनेनास्माकमल्पेऽपि वस्तुनि न सामर्थ्यमिति (देवाना) दैन्योद्भावेन तस्य ब्रह्म–धर्मता समर्थिता। यत आगत सामर्थ्यं तत्त्रैवोपसंक्रान्तमिति।

एव यत्पारतन्त्र्य तद्यदि स्वाभाविक स्यात्तर्हि–अध्रुव' न स्यात्, तस्मादयमपि धर्मोऽ यदीय एव नास्माकमध्रुवत्वात्, "युक्तं भगैस्वैरितरत्र चाध्रुवे "रिति–न वय केऽपि, नान्यत्र स्वातन्त्र्यादयो धर्मा किन्तु ब्रह्मणि ते, अन्यत्र कार्येषु गच्छन्ति। नान्यगता धर्माः ब्रह्मण्युपसंक्रामन्ति–इति कथं ब्रह्मण्यन्यधर्मारोप समर्थनीयः? तदभावाच्च न विपरीतभावना ब्रह्मणि कर्तुं शक्या। ब्रह्म–प्राप्तौ साधनाविष्कारपूर्वकं स्वस्मिन् पारतन्त्र्य–भावनं, तदपि ब्रह्म–धर्मो भवति, इति– न साधने विपरीतभावनावतारः। ब्रह्मणा दत्तेनैव तेन ब्रह्म प्राप्तुं शक्य नान्येनेति।

एव प्राप्तौ ब्रह्मैव प्रमाणम, ब्रह्मैव प्रमेयम्, ब्रह्मैव साधनम् भक्ताविति सिद्धम ॥१२॥२५॥

कारिका .—

" स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं वा ब्रह्मदत्तं हि साधनम् ।
भक्तौ ब्रह्म-गुणावेतौ नारोपस्तेन सिद्ध्यति ॥३०॥
जीवीयौ ब्रह्मणा दोषौ निवार्यौ, दैन्यतोद्ये-
स्वगुणौ तत्र दातव्यौ, ताभ्यां ब्रह्म तु लभ्यते ॥३१॥
गुरोः सकाशाच्छिक्षा तु तत्र द्वाविति निर्णयः ।
विपरीता भावनैवं साधने, सा निराकृता ॥३२॥

—o—

इति सामवेदीयकेनोपनिषन्मनस्विन्यां तृतीय खण्ड ।



भक्तिविशिष्टां विद्याधिष्ठात्रीं देवतां 'आजगाम' = ता विद्यामेवाचार्यरूपामासमन्ता त्प्राप्तवान्।

परतन्त्राया (विद्यायाः) शिष्योऽपि परतन्त्रो भवतीति–तदुपसत्त्या पारतन्त्र्यं गच्छँ 'स्तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ?' प्रश्नं कृतवान्। तदेतदाह-'तां हे'ति। तां = सर्वलोकवेदप्रसिद्धत्वेन ब्रह्मरूपान्तरम्, आचार्यरूपतयोपस्थिताम् 'हे'ति–उपसत्तिप्रसिद्धिं कुर्वन् 'उवाच'= पृष्टवानिन्द्र। प्रश्नाकारमाह – 'किमेतद् यक्ष'मिति। परिप्रश्नेनोपसंहारः शास्त्रार्थ–दाढर्याय। तेन पारतन्त्र्यरूपो गुणश्चोक्त। सोप्यय ब्रह्मण एव गुणो भवति, "भर्ता सन्भ्रियमाणो बिभर्ति" इति हि समाम्नायः। सेव्य-गुणाविष्टेनैव सेवकेन सेव्यमाराधयितु शक्यमिति।

तथाचास्य ग्रन्थस्य प्रकृतार्थानुकूल्यमेवम् :—

पूर्वं देवानां पारतन्त्र्यमवस्थितम्। पुनर्ब्रह्मणो जयेन ब्रह्म–धर्मावेशात्तेषु स्वातन्त्र्यभाविर्भूतम्। पुनस्तस्य देवधर्मता मा भूदिति–यक्ष–धृततृणे स्वस्व- सामर्थ्यामूर्च्छनेनास्माकमल्पेऽपि वस्तुनि न सामर्थ्यमिति (देवाना) दैन्योद्भावेन तस्य ब्रह्म–धर्मता समर्थिता। यत आगत सामर्थ्यं तत्त्रैवोपसंक्रान्तमिति।

एव यत्पारतन्त्र्य तद्यदि स्वाभाविक स्यात्तर्हि–अध्रुव न स्यात्, तस्मादयमपि धर्मोऽन्यदीय एव नास्माकमध्रुवत्वात्, "युक्तं भगै स्वैरितरत्र चाध्रुवै"रिति–न वय केऽपि, नान्यत्र स्वातन्त्र्यादयो धर्मा किन्तु ब्रह्मणि ते, अन्यत्र कार्येषु गच्छन्ति। नान्यगता धर्माः ब्रह्मण्युपसंक्रामन्ति–इति कथं ब्रह्मण्यन्यधर्मारोप समर्थनीयः ? तदभावाच्च न विपरीतभावना ब्रह्मणि कर्तुं शक्या। ब्रह्म–प्राप्तौ साधनाविष्कारपूर्वकं स्वस्मिन् पारतन्त्र्य–भावनं, तदपि ब्रह्म–धर्मो भवति, इति- न साधने विपरीतभावनावतारः। ब्रह्मणा दत्तेनैव तेन ब्रह्म प्राप्तुं शक्य नान्येनेति।

एव प्राप्तौ ब्रह्मैव प्रमाणम्, ब्रह्मैव प्रमेयम्, ब्रह्मैव साधनम भक्ताविति सिद्धम ॥१२॥२५॥

'सा'= ब्रह्मण शक्तिराधिदैविकी, इन्द्रस्य फलमुखाधिकारिता-मालोच्य- इन्द्रमुवाच। सिद्धस्य वस्तुनस्तावत्सर्वेनाम्ना निर्देशः कर्तुं शक्यः, (परं) ब्रह्मणि यक्षे तिरोहिते- इन्द्रत्वमपि तिरोहितमिति. खपुष्पमितिवच्छब्द-ज्ञानानुपातित्वस्य जातत्वान्न नाम-निर्देशः. अपित्वध्याहारः। इन्द्रं यक्षं 'ब्रह्मेति' 'उवाच'। "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" बृहत्त्वादेवेदं यक्षमिति, बृंहणत्वादेवास्या-पराभाव्यं त्वयि स्थितमिति। 'ह'ेति तवानुभवेनैवास्य प्रसिद्धिः। तेन दुरामदता, अतिदुर्धर्षता, या- सा त्वयि ब्रह्म-धर्मः। तमेवाहः-'ब्रह्मणो वा एतत्' इति, स्वानुभवेन निश्चितं प्रत्यक्षं चैतत्-यद् 'ब्रह्मणो विजये महीयध्वं' ब्रह्मण स्वभक्तानामुत्कर्षाख्य-बृंहणाख्यधर्मवतो विजये = सर्वथा चाघराहित्याद् विशिष्टायां सर्वोत्कर्षेणस्थितो यूयं, महीयध्वम्'= उत्कर्षं प्राप्ताः स्थ। इति- गर्वं त्यजतेति भावः।

तेनोपदेशेन किं सिद्धम? तदाह -'ततो हैव विदां चकार ब्रह्मेति'। 'तत्' इत्यव्ययनिर्देशात्- अविकृता वाग् अत्र बोधे कारणम्। श्रौतैर्वाक्यैः स बोधित इति। तानि संग्रहीतुं 'इति' शब्द प्रथममुपात्तः। तानि हि- उपनिषदनन्तर उपलभ्यन्ते :—

"कामास्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारं, स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां०"। "एतदालम्बनᳪ श्रेष्ठमेतदालम्बन परं, एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" "यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति, तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चनेति हवै०"।

इति—विपरीतभावनाया अविषयं, प्रसिद्ध, निश्चित च विदाञ्चकार = विज्ञातवान् 'ब्रह्मेति'। अस्माक जय-हेतुरिदमेव। पूर्वमस्य 'तुच्छमिदमिति ज्ञानेऽस्माकमेव तुच्छता सम्पन्ना। अधुना तु- अस्य बृहकत्वेन ज्ञातत्वात्पूर्वमेव तेजोऽस्माकं संक्रान्त-मित्यवश्य ब्रह्मैतदिति।

तेन- फले स्वाभीष्टार्थ-सिद्ध्यनुकूलत्वं गुणः, तत्प्रतिकूलत्व

चतुर्थः खण्डः ।

*

पूर्वखण्डे साधनगता विपरीतभावना निराकृता । अथ फलगतां तां निराकर्तुं चतुर्थः खण्ड आरभ्यते —

कारिका :—

स्वाभीष्ट-सिद्धौ वैफल्यमविज्ञानं गुरोर्मुखात् ।
असन्निधिः, प्रयासेन लभ्यता, ऽनिर्वृतेर्जनिः ॥३३॥

स्वैक्याऽप्रवणता, सर्वसौहार्द-प्रियताऽजनिः ।
एते फलगता दोषाः, विपरीता तु भावना- ॥३४॥

एतैरुदेति, ब्रह्माख्ये फले तेषामभावतः ।
तस्या निवृत्तिरत्रोक्ता पञ्चभि र्हेतुगर्भितैः ॥३५॥

उपक्रमोपसंहारकृतमेकार्थबोधनम् ।
सन्दर्भ-शुद्धये प्रोक्तं, भक्तिस्तत्र फलिष्यति ॥३६॥

जीवस्य तस्याः संप्राप्तौ साधनानि प्रसङ्गतः-
उक्तानि, ग्रन्थसंज्ञान-प्रसिद्ध्यै फलमेकतः ।
एवं चतुर्भिः खण्डोऽयं पूरितो दोष-हानये ॥३७॥

साधनं कृतं दैन्याविष्कार-पूर्वकम्, स्वस्मिन् पारतन्त्र्य-भावनात्मकम्, तस्य फलं ब्रह्मणस्तत्त्व-ज्ञानम् । तत्र गुरूपसत्तिरङ्गम् । तेन साधनेन फलं कीदृश लभ्यते ? तत्र गुणश्च क ? इत्याकाङ्क्षायां गुरु-कथनमुखेन फल-स्वरूपमाह निगमः । गुरोरेव जिज्ञास्य चेत्फलाधायकमिति —

" सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये, महीयध्वम्,
इति ततो हैव विदाञ्चकार-ब्रह्मेति" ॥१॥२६॥

'सा'= ब्रह्मण शक्तिराधिदैविकी, इन्द्रस्य फलमुखाधिकारिता-मालोच्य- इन्द्रमुवाच। सिद्धस्य वस्तुनस्तावत्सर्वनाम्ना निर्देश· कर्तुं शक्यः; (परं) ब्रह्मणि यक्षे तिरोहिते- इन्द्रत्वमपि तिरोहितमिति. खपुष्पमितिवच्छब्द-ज्ञानानुपातित्वस्य जातत्वान्न नाम-निर्देश·. अपित्वध्याहारः। इन्द्र यक्ष 'ब्रह्मेति' 'उवाच'। "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" बृहत्वादेवेदं यक्षमिति, बृंहणत्वादेवास्या-पराभाव्यं त्वयि स्थितमिति। 'हे'ति तवानुभवेनैवास्य प्रसिद्धि। तेन दुरासदता, अतिदुर्धर्षता, या- सा त्वयि ब्रह्म-धर्मः। तमे-वाह:-'ब्रह्मणो वा एतत्' इति, स्वानुभवेन निश्चितं प्रत्यक्षं चैतत्-यद् 'ब्रह्मणो विजये महीयध्वं' ब्रह्मण स्वभक्तानामुत्कर्षाख्य-बृंहणाख्यधर्मवतो विजये = सर्वथा चाघराहित्याद् विशिष्टायां सर्वोत्कर्षेणस्थितो यूयं, महीयध्वम'= उत्कर्ष प्राप्ताः स्थ। इति- गर्वं त्यजतेति भावः।

तेनोपदेशेन किं सिद्धम? तदाह :-'ततो हैव विदां चकार ब्रह्मेति'। 'तत' इत्यव्ययनिर्देशात्- अविकृता वाग अत्र बोधे कारणम्। श्रौतैर्वाक्यैः स बोधित इति। तानि संग्रहीतुं 'इति' शब्द प्रथममुपात्तः। तानि हि- उपनिषदनन्तर उपलभ्यन्ते —

"कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारं, स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां०"। "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदा-लम्बनं परं, एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" "यतश्चो-देति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति, त देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चनेति ह्वै०"।

इति—विपरीतभावनाया अविषयं, प्रसिद्ध, निश्चित च विदाञ्चकार = विज्ञातवान् 'ब्रह्मेति'। अस्माक जय-हेतुरिदमेव। पूर्वमस्य 'तुच्छमिद'मिति ज्ञानेऽस्माकमेव तुच्छता सम्पन्ना। अधुना तु- अस्य बृंहकत्वेन ज्ञानत्वात्पूर्वमेव तेजोऽस्माकं संक्रान्त-मित्यवश्यं ब्रह्मैवतदिति।

तेन- फले स्वाभीष्टार्थ-सिद्ध्यनुकूलत्वं गुणः, तत्प्रतिकूलत्व

चतुर्थः खण्डः ।

※

पूर्वखण्डे साधनगता विपरीतभावना निराकृता । अथ फलगतां तां निराकर्तुं चतुर्थः खण्ड आरभ्यते —

कारिका :—

स्वाभीष्ट-सिद्धौ वैफल्यमविज्ञानं गुरोर्मुखात् ।
असन्निधिः, प्रयासेन लभ्यता, ऽनिर्वृतेर्जनिः ॥३३॥

स्वैक्याऽप्रवणता, सर्वसौहार्द-प्रियताऽजनिः ।
एते फलगता दोषाः, विपरीता तु भावना- ॥३४॥

एतैरुदेति, ब्रह्माख्ये फले तेषामभावतः ।
तस्या निवृत्तिरत्रोक्ता पञ्चभि र्हेतुगर्भितैः ॥३५॥

उपक्रमोपसंहारकृतमेकार्थबोधनम् ।
सन्दर्भ-शुद्धये प्रोक्तं, भक्तिस्तत्र फलिष्यति ॥३६॥

जीवस्य तस्याः संप्राप्तौ साधनानि प्रसङ्गतः-
उक्तानि, ग्रन्थसंज्ञान-प्रसिद्ध्यर्थे फलमेकतः ।
एवं चतुर्थः खण्डोऽयं पूरितो दोष-हानये ॥३७॥

साधनं कृतं दैन्याविष्कार-पूर्वकम्, स्वस्मिन् पारतन्त्र्य-भावनात्मकम्, तस्य फलं ब्रह्मणस्तत्त्व-ज्ञानम् । तत्र गुरूपसत्तिरङ्गम् । तेन साधनेन फलं कीदृश लभ्यते ? तत्र गुणश्च क ? इत्याकाङ्क्षायां गुरु-कथनमुखेन फल-स्वरूपमाह निगमः । गुरोरेव जिज्ञास्य चेत्फलाधायकमिति —

" सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये, महीयध्वम्,
इति ततो हैव विदाञ्चकार-ब्रह्मेति " ॥१॥२६॥

'सा'= ब्रह्मण शक्तिराधिदैविकी, इन्द्रस्य फलमुखाधिकारिता-मालोच्य- इन्द्रमुवाच। सिद्धस्य वस्तुनस्तावत्सर्वनाम्ना निर्देश कर्तुं शक्यः; (परं) ब्रह्मणि यक्षे तिरोहिते- इन्द्रत्वमपि तिरोहितमिति. खपुष्पमितिवच्छब्द-ज्ञानानुपातित्वस्य जातत्वान्न नाम-निर्देश, अपित्वध्याहारः। इन्द्र यक्षं 'ब्रह्मेति' 'उवाच'। "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" बृहत्त्वादेवेदं यक्षमिति, बृंहणत्वादेवास्या-पराभाव्यं त्वयि स्थितमिति। 'हे'ति तवानुभवेनैवास्य प्रसिद्धि.। तेन दुरासदता, अतिदुर्धर्षता, या- सा त्वयि ब्रह्म-धर्मः। तमे-वाहः-'ब्रह्मणो वा एतत्' इति, स्वानुभवेन निश्चितं प्रत्यक्षं चैतत्- यद् 'ब्रह्मणो विजये महीयध्वं' ब्रह्मण स्वभक्तानामुत्कर्षाख्य- बृंहणाख्यधर्मवतो विजये = सर्वथा बाधराहित्याद् विशिष्टायां सर्वोत्कर्षेणस्थितो यूयं, महीयध्वम'= उत्कर्षं प्राप्ताः स्थ। इति- गर्वं त्यजतेति भावः।

तेनोपदेशेन किं सिद्धम ? तदाह -' ततो हैव विदां चकार ब्रह्मेति'। 'तत्' इत्यव्ययनिर्देशात्- अविकृता वाग् अत्र बोधे कारणम्। श्रौतैर्वाक्यैः स बोधित इति। तानि संग्रहीतुं 'इति' शब्द प्रथममुपात्तः। तानि हि- उपनिषदनन्तर उपलभ्यन्ते .—

"कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारं, स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां०"। "एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदा-लम्बन परं, एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" "यतश्चो-देति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति, त देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चनेति ह्वै०"।

इति—विपरीतभावनाया अविषयं, प्रसिद्ध, निश्चित च विदाञ्चकार = विज्ञातवान् 'ब्रह्मेति'। अस्माकं जय-हेतुरिदमेव। पूर्वमस्य 'तुच्छमिदं'मिति ज्ञानेऽस्माकमेव तुच्छता सम्पन्ना। अधुना तु- अस्य बृंहकत्वेन ज्ञातत्वात्पूर्वमेव तेजोऽस्माकं संक्रान्त-मित्यवश्य ब्रह्मैवतदिति।

तेन- फले स्वाभीष्टार्थ-सिद्ध्यनुकूलत्वं गुणः, तत्प्रतिकूलत्व

च दोषः। स विपरीतभावनाया व्युत्थापक', तदभावस्तत्रानुभवसिद्धः, इति– न ब्रह्माख्ये फले विपरीतभावनावकाश, गुणाधायकत्वात्फलस्येति सिद्धम् ॥१॥२६॥

विहितभक्तिमार्गे गुरूपसत्ति विना न निस्तारः,"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्था. प्रकाशन्ते महात्मन.०" इति। तत्कृपयैव ब्रह्म–प्राप्तौ सर्वोत्कर्षेण स्थित्यात्मक फलं भगवदावेशस्य परिचायनम्। एतद्यत्सर्वोत्कर्षेण स्थितिरिति, तामेव ब्रह्म–प्राप्ति–गमिकामाह :—

" तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रः,
ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति"॥२॥२७॥

'तस्मा'दिति – गुरु–कृपया सर्वोत्कर्षाधायकमस्माकमिदं ब्रह्मेति माहात्म्य–ज्ञानात्, हेतो, 'वा' इति निश्चयेन, 'एते देवाः' इति– सर्वं वाक्य सावधारणम्। 'एते एव देवाः = द्योतमाना अलौकिकतेजोविशिष्टा, 'अतितरामिवान्यान्देवा'निति – अतिशयिता अन्यान्देवानपेक्ष्येति वाक्य–पूरणम्। मनुष्येभ्यो देवाः अति. देवेभ्योप्येतेऽतितराम्। इवेन– ब्रह्मावेशादेव, न तु वास्तविकमेतेष्वतिशयकीर्तनमिति– सूचितम्। देवेषु द्वैविध्यम्–(वर्तते) भगवन्माहात्म्य–वित्त्वेन साधारण्येन च। निस् निश्चयेन ब्रह्म यन्ति ते न्याः। (न न्याः अन्याः। तान्। अत्र-) उपसर्गावयवस्यानुच्चारण परोक्षवादार्थम्। तथाचावित्सु देवत्व रूढम्, वित्सु च योगरूढमिति निर्णय। 'एत' इति स्वानुभवेन तेषु वैशिष्ट्य व्याख्यातम्।

तान्निर्दिशन्नाह :–'यदग्नि'रित्यादि। योऽग्निर्वायुरिन्द्रश्चेति। अग्निः अञ्चनादङ्गनाद्वा। वायुर्हि वानादवगमनाद्वा। इन्द्र इति इन्दनादिन्धनाद्वा। ब्रह्माविष्टस्तेजोविशिष्टोऽग्निः सर्वै पूज्यते, स्वरूपतां गमयति वा स.। (वाति) गच्छति सर्वत्रेति, अवगमयति स्वाविना भावेन सर्वानिति वा वायुः। दीप्तो भवति देवराजत्वात्परमैश्वर्य–विशिष्टो वा, इन्द्रः।

एतेषामीदृशधर्मवत्वे कारणमाह—' ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुः'

इति। ते- इति " ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः " इति ब्रह्मावेश द् ब्रह्मनिर्देशकेन परामृष्टाः। ' हि '-इति युक्तम्। अम्मयमापो न व्यथयन्ति तथा, तेजोमयं तेजो यथा, एवं ब्रह्माविष्टाः, ब्रह्म पस्पृशु। अन्यथा ब्रह्म-तेजसा दह्येरन्। " अग्निर्देवानामवमो विष्णुः प्रथमः" इति " नमस्ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ' इति - आगमो भवति।

' एत 'दिति प्रत्यक्षं ब्रह्म। 'नेदिष्ठ'मिति .—कर्मणा प्राप्त ब्रह्म अन्तिकं भवति। ज्ञानेनाप्तं नेदीयो भवति। भक्त्या प्राप्तं नेदिष्ठम्। " तद् दूरे तद्वन्तिके " इति हि श्रुतिर्भवति। तादृशं ' पस्पृशु 'रिति— त्वगिन्द्रिय-जन्यज्ञान-विषयं कृतवन्त। इति देवानां विग्रहवत्ता व्याख्याता, वाक्यार्थ-स्वारस्याद् ब्रह्मणश्च साकारता। नहि निराकारं त्वचा ग्राह्यं भवति, अलौकिकमेतदिन्द्रियं भगवत्कृपया लभ्यते, दिव्यं ददामि ते चक्षु'रित्यत्र निर्दिष्ट चक्षुर्वत्।

ब्रह्मणश्च सेव्यता, एतेन व्याख्यता। पादसेवनाख्या चेयं भक्तिरिति प्रतिभाति। तेन त्रिष्वपि विशिष्टो भवति कश्चन न वा ? तत्र को हेतुरिति-प्रश्नो ग्रन्थ-स्वारस्यायाध्याहार्यः। तस्योत्तरमाह .- ' ते ह्येनत्° ' इत्यादि। 'ते' इति तेषामेनत् इति-एष प्रथम। योहि ब्रह्मेदं यक्षरूपेणाविर्भूतमिति-विदांचकार। ते ह्येनदित्यत्र ' हि ' शब्दो योग्यतामाह —अवश्य गुरुमुपसन्न फल-प्राप्तौ योग्यतां लब्ध्वा तत्प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥२।२७॥

तदेतदुक्तमिन्द्रादिषु निगमयति :—

"तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श,
स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार— ब्रह्मेति" ॥३॥२८।

यस्माद् गुरुमुपसन्नो ब्रह्म-याथात्म्य जानन्नेव प्रथमो भवति तस्मादिन्द्रोऽन्यान्देवानपेक्ष्यातिशयित। तत्र हेतुः —'स हि'= इन्द्रः, 'एनत ' ब्रह्म, भक्त्या 'नेदिष्ठं' = अतिनिकटे वर्तमान

पस्पर्श। स एव 'प्रथमः'। 'एनद्' यक्षरूपेण प्रत्यक्षं ब्रह्मेति-'विदांचकार'।

तेनेदं सिद्धम् :—

फलस्यासन्निधिरपि तद्दोषः, तेनापि फले विपरीतभावनोदेति, सा च ब्रह्मात्मके फले नास्ति, भक्त्या ब्रह्म-सन्निधे कर्तुं शक्यत्वात्। इतोऽपि न विपरीतभावनावकाश। एनावता प्रबन्धेन फल-स्वरूपं निर्दिष्टम, यत्प्राप्त्या सर्वोत्कर्षो देवानामपि भवति, तद् ब्रह्माख्यं फलमिति ॥३॥२८॥

अथ तस्मिन्फले के गुणा. ? यदभावेन फल-प्राप्तावपि सन्तोषो मनसि नोदेति, इत्याकाङ्क्षायां गुणानाह त्रिभि —

तत्र तदात्मको गुणो निर्दिश्यते :—

" तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इति,
(इन्) न्यमीमिषदा ३, इत्यधिदैवतम् ॥४॥२९॥

'तस्य' देवानामपि फलरूपस्य, 'एषः' बुद्धिस्थोऽग्रे निर्दिश्यमान, 'आदेशः' 'आसमन्ताद् दिश्यत उच्चार्यते – स = आदेश, देशकालनिरपेक्षा उत्कर्षाधायका धर्मा.। जातावेकवचनमिदम्। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतव संवत्सराः" इत्यागम.।

'विद्युत' इति। विशेषेण द्योतत इति विद्युत = आनन्द'। 'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासनेऽमृत'मित्यागमः। 'यश्चाय विद्युति तेजोमयोऽमृतमय पुरुष' इति श्रुतौ य आनन्दात्मक आत्मा सोऽयं विद्युत, तद्धर्माश्च ततोऽभिन्ना, "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्" इत्यधिकरणे चेदं सिद्धम्। यथा ब्रह्म धर्मत्रयविशिष्ट तथा गुणा अपि तस्य। तत् शब्दस्य प्रवृत्ति-निमित्तमाह 'व्यद्युतदा इति-' आसमन्ताद्विद्योतितवानिति-हेतोर्गुणो विद्युतो भवति। अयमानन्द धर्मः! "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति चागमः। तेन देशकालानधीनद्योतन-धर्मवत्त्वात् (ब्रह्म)

सर्वत्र सुलभं भक्त्येति। "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चे"ति निगम-कदम्बेन सर्वत्र व्यापकता-प्रतिपादनात्सुलभत्वम्। (तेन) प्रयाससाध्यता निराकृता। 'इति' शब्दः प्रकारवाची, तेन एवंविधा गुणा ये भक्तानां सन्तापहारकास्ते बहवो ब्रह्मणि वर्तन्ते, उपलक्षणविधयैतदुक्तमिति भाव ।

कार्यतोऽपि विवृताख्यो गुण उच्यते–' न्यमीमिपदा इति।' आसमन्तान्निमेषमकारयत्। निमेषोऽयमक्ष्णोर्धर्मः। धर्म–सङ्गत्ये धर्मी आक्षिप्यते। निमेषो नामाक्ष्णोर्मुद्रणम्। कालबहुलतामुपलभ्य जीवे निवृत्ते अनिमेषो भवति। आनन्दाकारस्य लावण्यामृत–पानेनातृप्नुवतो महाभागस्य कस्यचिद् दृश्यान्तरस्याभावेनाक्ष्णोर्निमेषो जायते। इति– कार्यतः स्वरूपतश्चानन्दात्मकता गुणस्य व्याख्याता। अत्रायमागम :–" तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवाय पुरुष. प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर "मिति।

तेनेदं सिद्धम् :—

प्रयास–लभ्यता, निर्वृन्यजनकता च फल–दोषौ, ताभ्यां विपरीतभावनोदयस्तौ चात्र न भवत इति – न विपरीत-भावनावकाश. फलात्मके ब्रह्मणि, लोकोत्तरत्वादिति। एतस्य गुणस्यानन्दैकनिष्ठता–व्युत्पादनाय – ' इत्यधिदैवत 'मिति कथनम् ॥४॥२९॥

अथ चिदात्मको गुण उच्यते —

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च,

मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सकल्पः ॥५॥३०॥

आत्मनि चिद्रूपे भवतीदमिति – अध्यात्मम्। ज्ञानं फलगुण, " पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः " "स वेत्ति वेद्य"मित्यागमः। स एव व्युत्पाद्यते–यदेतदित्यादिना।'यदेतन्मनो गच्छतीव चे'ति। " एतस्माज्जायते प्राणो मनः " इति – श्रुत्युक्तं यद् ब्रह्मज मन.,

तत् अणु, स्वगुणेन सर्वेभ्योऽत्पतति, तदा 'गच्छतीव' इति व्यपदिश्यते। 'मनो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य, पर्यत्योवाच" इत्यागमः।

यदा च सर्वेभ्यो महत्तमेन ब्रह्मणा (मन) महाशिलया पिपीलिकेवाक्रान्त भवति-स्थिरं भवति। 'वृक्ष इव स्तब्धो, दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं"मित्यागम। परं तत्स्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वाभाव्याद् गच्छतीव। उत्कृष्ट वस्तु सर्ववस्तु-रसान्न्यक्कृत्य स्वसंस्कारमेव मनसि दृढयति, तदा तदभिलाषाय मन सर्वदैव प्रवर्तते-"आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षरं सोम्य! विद्धि"इत्यागमः। एकरूपस्यानुभवस्यैव, एकरूपसंस्कार-जनने हेतुतेति - तद्रूपतया चिद्रूपता गुणो भवति। एवमासेचनकता व्याख्याता। 'एवं स देवो भगवान्वरेण्य" इति ह्यागमः। 'च'कार' इच्छतीवेत्यादीनां संग्रहार्थः।

'एत दिति - प्रत्यक्षविषयतया सर्वतो विलक्षणरस-जनकतया स्थित ब्रह्म, "आत्मक्रीड आत्मरति.०" क्रियावानेष विदां वरिष्ठः" इति समाम्नायः। यत एवमत -'अनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः'। अनेन=मनसा, एतद्, ब्रह्म कर्म उपस्मरति अधिकं स्मरति जीवः। 'सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति" रित्यभोक्ता या स्मृति माऽऽविर्भवति। तस्या ध्रौव्यं निर्दिशति -'अभीक्ष्ण'मिति दीर्घ काल उपात्त'। उप इति आदर.। 'स्मरतीति' नैरन्तर्यमिति दीर्घ कालादरनैरन्तर्येण जीवस्य स्मृतिः, ब्रह्मरूपफल-स्वाभाव्यादेव। तेन चेतस फलैकप्रावण्यमुक्तम्। "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः प्राणैश्च सर्वै' रिति। "प्राणैश्चित सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मेति "चागमः।

जीवस्यैवभूतायामवस्थायां योग्यतार्थमाह - 'सकल्प'। कर्माधीनस्तु- अकल्प एव। "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशाविति"ह श्रुतिः। ज्ञानवान्कल्पो भवति-"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै"रिति चागम। सङ्कल्पस्तु भक्त्या भवति-' सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते' ति श्रुतिरत्र भवति। ब्रह्म तुपराधीनमेव भवति, जीव-

कर्तृकफलास्वाद-दशायामेव । 'भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ति" इति-श्रुत्युक्तं भर्तृत्वं यदा जीव आविर्भावयति, तदा जीवः संकल्पो भवति, भगवांस्तु भ्रियमाणत्वदकल्पो भवति। 'य इदं मध्विदं वेद, आत्मानं जीवमन्तिकात्, ईशानं भूतभवस्य न ततो विजुगुप्सते" इति श्रुतिरत्र भवति। अन्यथाचेद् "रसो वै सः' इति श्रुत्याम्नाता रसरूपतैवोच्छिद्येत ? रसस्य चैवंभूनमर्यादा, इति न कोपि दोष.।

एनेन स्वानुभवद्वारा स्वस्य ज्ञानरूपाख्यो गुणो भवति "नान्यदतोस्ति मन्तृ नान्यदतोस्ति विज्ञातृ"- इति श्रुतावुक्त ।

तथाच स्वैकाप्रावण्यं स्वस्य चेतसश्चेत् फले दोष', तेनापि विपरीतभावनोदेति। स तु ब्रह्माख्ये फले नास्ति- इति न विपरीत भावनावतारस्तत्र कथंचित् सभवतीति- सिद्धम् ॥५॥३०॥

अथ सदात्मको गुण उच्यते :—

"तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति" ॥६॥३१॥

'तत्' प्रसिद्धं सर्वेषां फलरूपम् । निश्चये 'ह' शब्दः । नात्र प्रलोभना काचित। 'तद्वनं नाम'=तनोतीति 'तत्' सर्वविस्तारकम। 'विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वै" भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र "तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! "स सर्वज्ञ सर्वमेवाविवेशे"ति च श्रुति.। 'वनं' याचनीयम। "यश्छंदसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योध्यमृतात्संबभूव, स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु" इत्यागमः। संभजनीय वा, "विज्ञानं देवा. सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते०", "माहं ब्रह्म निराकुर्या"मिति च श्रुतिः। तद्वनं भवति। सदेव ब्रह्म व्यापकम्, तथा सदेव याचनीय, संभजनीय वा भवति नत्वसत्। 'नामे'ति प्रसिद्धिः। तया कल्पितत्व व्यावृत्तम्।

यत एवं गुणकं ततस्तद्वनमिति - माहात्म्यं ध्यात्वोपासितव्य भजनीयम्। एतादृशभजनेनोपासकस्य यो गुणः प्रसिद्ध्यति तमाह-'य एतदेव'मित्यादिना। 'य' इत्येकवचनेनासाधारण्य-

मुपासके व्याख्यातम्। एतद्वेद= तद्वनं ब्रह्मेत्येतद्वेद, स एवं करोतीति शेष । ब्रह्म = सर्व-विस्तारकम् –" तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्या पशवो वयांसि प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्व ब्रह्मचर्यं विधिश्चे"ति हि श्रुतिः। इति सर्वभजनीय "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं त देवतानां परमं च दैवत, पतिं पतानां परम'मिति हि श्रुतिः।

य एवंभूतामुपासनां करोति, तस्योपाकस्य फलं 'अभि हैन मित्यादिनाह-' एनं सर्वाणि भूतानि–अभिसवाञ्छन्ति ' सर्वाणि भूतानि=प्राणिजातानि। एनमुपासकमिति, सम्यक् वाञ्छन्त। प्रयोजन-रहित्येन वाञ्छनं सवाञ्छनम् स्वरूपतो गुणत क्रियातश्च वाञ्छनि – इत्यभिशब्दार्थ ।

अत्र च केनापि प्रकारेण मनःसन्तोषार्थं सम्वाद कार्य इति द्योतनाय—' हे 'ति। एवं च यदि फले सत्व न स्यात्तर्हि तदुपासकस्यापि सत्वाभावात्सर्वभूतानामभिसंवाञ्छन न स्यात् अस्ति च तत्तस्मिन्निति – तदुपासकमपि सर्वाणि भूतानि अभिस वाञ्छन्ति। इति सत्वाख्यो गुणः कार्येण स्वरूपतश्च निर्दिष्टः।

तथा च स्वसेवनेन पोषकत्वं यथा फले गुण ,तथा ब्रह्माख्ये फलेऽपि स्वसेवनेन सर्वभूत–प्रियसुहृत्त्वकरणं गुण । फलदोष एव विपरीतभावना–जन्मनि निदानम्। स चात्र नास्तीति न तस्मिन्विपरीतभावनावकाशः। सर्वभूतप्रियसुहृत्व ब्रह्म–धर्म। स ब्रह्मावेशादेव जीवे संक्रान्तो भवति।

तस्मात्सिद्धम् :—

ब्रह्मणि भक्ति कर्तव्येति। तयैवहि जीवानां परमपुरुषार्थ–सिद्धि। तन्मार्गे च प्रमाण–प्रमेय–साधन–फलानि न ब्रह्मातिरिक्तानि। तेषु ब्रह्मण स्वाभाविकगुणमहिम्ना नासंभावनाविपरीत-भावनाभ्यां प्रतिबन्धकमुपस्थातुं शक्यम्। नात्र मार्गे प्रमाण–प्रमेय–साधन-फलेषु दोषः कश्चनेति ॥६॥३१॥

अथाचार्य'-"आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्ट "इतिन्याय प्रसङ्गोऽत्र माभूदित्युपक्रमोपसंहारयोरेकार्थतया भवितव्यमिति कृत्वा शिष्येण त्वया यत्'केनेषित 'मित्यादिना पृष्टं, तत्सदृशमुत्तरमेतत्तव मनस्यारूढ न वेति ? नेति चेत्पुनर्वक्तव्यमोमिति चेन्न वक्तव्यम ? इति-शिष्याभिप्रायानुवादेन विद्याया उपसंहारमाह -

" उपनिषदं भोः ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति " ॥७॥३२॥

'उप'निपूर्वात्सीदतेरयमुपनिषच्छब्द (सिद्धः)-उप=समीपे नितरां सीदत्यनयेति'उपनिषत्'। सीदतिश्च त्रिष्वर्थेषु पठ्यते '-(१) विशरणे, (२) गतौ (३) अवसादने च।

(१) विशरण= नामासंभयावस्थानम। विशीर्णो धान्यराशिरित्यादौ दृष्टार्थम। स्वरूप-गुण-क्रियाराहित्येन रूपान्तरेण वस्तुनोऽवस्थानानुकूलो व्यापारविशेषः। ब्रह्म-सान्निध्यं प्राप्य महान्तमपि वाधकं निराकृत्य= विशीर्णा भवति कोशोऽनया सा उपनिषद्भक्तिः।

"यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्"। "अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः, देहाद्विमुच्यमानस्य किमतः परिशिष्यते" इति। "अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा" इति हि श्रुतिस्मृती भवतः।

(२) सीदति प्राप्नोति ब्रह्मानयेति वा सैव।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः, नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" इत्यत्र निगमो भवति।

(३) अवसादयति जीवभावं ययेति सैव।

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय,

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ” इति। “ यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ! ” । इति निगमो भवति ।

तेन भक्तिं भोः ! ब्रूहीति तात्पर्यात् ‘केनेषित ’ मित्यादिना यः) प्रश्नस्त्वया कृतस्तदुत्तरे ते=तुभ्यम, उपनिषद्=भक्तिरुक्ता=व्याख्याता एतस्य रहस्यस्य प्रतिपादन-पात्रतां द्योतयितुमत्र चतुर्थी (विभक्ति) तत्रापि न देवतान्तरनिष्ठा भक्तिस्तुभ्यमुक्ताऽपि तु निर्गुणब्रह्म-निष्ठेति। तदाह–‘ ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ’ । ‘ ब्रह्म ’ शब्दो वेदान्ते निर्गुणपरमकाष्ठापन्ने वस्तुनि रूढ, योगरूढश्च।

“ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ”, “ बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म ”। अथात आत्मादेशः, आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरत, आत्मैवेद सर्वम् ”। “ स वा एष एव पश्यन्नेव मन्वान एव विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराद् भवति ” इति निगमः ।

तस्येय ‘ ब्राह्मी ’= ब्रह्मप्रापिका, ब्रह्मणा स्वार्थमियं निर्मितेति ब्राह्मी। (तां ब्राह्मीम्)

“ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ” इति श्रुतिरत्र भवति। “ जीवशेषोनुग्रहो ब्रह्मणः, ब्रह्मशेषा तु भक्तिः ” इति सिद्धान्तात्। “ भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ती”ति श्रुति । ‘ वाव ’ शब्दोऽव्ययमेवकारस्वार्थे (तेन) निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि नास्या अयोग इत्यर्थः । ‘ त उपनिषदमब्रूमे’ति, तस्याः प्रतिपादकोपि वेदभाग उपनिषदुच्यते। तस्य न स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमपि तु ब्रह्म-परत्वेनेति पारतन्त्र्यं द्योतयितु स्त्रीत्वेन (तद्-) व्यपदेशः ।

सा च ब्राह्मी= निर्गुणब्रह्मपरा तुभ्यमुक्ता “ सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति, “ छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ” इति। एतदभ्यासेनैव विदितवेदितव्यो भविष्यसि। अग्रे वचनीयस्याभावाद् भूतकालेन निर्दिशति‘अब्रूमेति’ । “ येना-

श्रुत श्रुतं भवति. अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञात भवती 'ति श्रुति। 'धन्योऽस्मि यस्य गृहे भवान् आयात' इतिवत् - स्व-प्रशंसा-द्योतनाय 'अब्रूम'इति बहुवचनम।

तेन गुणतः प्राशस्त्यमस्य ग्रन्थस्य व्याख्यातम। स्वरूपतः फलतस्त्वग्रे वक्ष्यति 'यो वा एतामेवं वेदे'त्यादिना ॥७॥३२॥

ननु शब्दजालरूपस्यास्य ग्रन्थस्य तात्पर्यवृत्त्या स्वार्थ-भक्ति ज्ञानरूपं फलसर्वान्प्रत्यविशेषेण भवति? आहोस्विद्विशेषतः? क्वचिच्चन्फलजनने तु कारणान्तरेण भवितव्यमिति-प्रश्नोऽन्तर्लीन-शिष्यस्योत्तरकथनादुन्नेय। तदुत्तरे विशेषत. क्वचिदेवास्य सन्दर्भ-स्योक्तरीत्या फलजनने सिद्धान्तिते कारण-सामग्रीं वक्तुमाह। तथात्र या ब्रह्म-भक्तिर्जीवस्य पुरुषार्थरूपतयोक्ता, तस्यामधिकार-प्राप्तौ कानि चित्साधनानि- अपेक्षितानि? अथवा साधनराहित्येन प्राप्यते सा? इति प्रश्ने उत्तरम् .—

पूर्वजन्मनि साधनानुष्ठानेनैवाधिकारः प्राप्यते.इति साधनान्याह .—

"तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा

वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्" ।।८॥३३॥

'तस्यै' इति तामुपक्रान्तामुपनिषदं प्राप्तुं, प्रतिष्ठा= निश्चलता साधनमिति भवति। 'इति'इति किम? यत्तपो दम कर्मेति, अग्नि-होत्रादिलक्षण नित्य नैमित्तिक यद्वेद उक्तम। तस्यानुष्ठानद्वाराऽ-भिव्यक्तं यत्पूर्वकाण्डार्थरूपं ब्रह्म, तत्कर्म सत्त्व-शुद्धेः कारणम्। "तदेतत्सत्य मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि, तान्याचरथ नियतं सत्यकामा' एष व. पन्था अमृतस्य लोके" "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्म-शुद्धये" इति श्रुतिस्मृती भवतः —

दम'=चित्तनिग्रह। सचायं कर्मास्यब्रह्माभिव्यक्तिसाध्य। ईश्वर्ज.मानामधिकार-सम्पादको दम एव। तत्त्व-विज्ञानार्थं

प्रजापतिमुपसन्ना ब्रह्मचर्यमुषित्वा देवा ऊचु 'ब्रवीतु नो भवानि'ति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति, 'व्यज्ञासिष्टा३' इति 'व्यज्ञासिष्मे'ति होचु., 'दाम्यते 'ति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति–श्रुतौ स उक्त । "विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नर, सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पद"मिति हि निगमः ।

सत्वे च शुद्धे तपः सिद्ध्यति, आलोचनात्मकम् । तच्च ब्रह्मणि ज्ञाते भवति । अत्रागम – "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति– ब्रह्मभूतस्यैवालोचनात्मक स्तपआख्यो धर्म । "य सर्वज्ञ सर्वविधस्य ज्ञानमय तपः" इति तत्र निगमः । स्मृतिरपि :–"ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, सम सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते परा"मिति । तपोदमकर्मणो' स्वपूर्वपूर्वोपकारकत्वम् । "यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्क सदा शुचि, स तत्पदमवाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते" इति श्रुतिर्भवति ।

आलोचनात्मकस्य तपसस्तु ब्रह्मभूतधर्मत्वेन भक्ति प्रति साक्षादुपकारकत्वमिति–विवेक । तेन पूर्वं कर्म, ततो दम', ततस्तप', इति योजनीयम् । तथाचात्र निगमो भवति :– "तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्या चरन्तः सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मे"ति ।

अथवा गृहस्थस्य कर्म प्रतिष्ठा, तापसस्य दमः प्रतिष्ठा, भिक्षोस्तप' प्रतिष्ठा । ब्रह्मचारिणो वेदा. सर्वाङ्गाणि सत्य चायतनमिति– वर्णाश्रमनिष्ठस्य धर्मस्यापि भक्त्यङ्गत्वम् । "ऋग्भिरेत यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् कवयो वेदयन्ते," "तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्"। "दानव्रततपो होमजपस्वाध्यायसंयमै., श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते" इति– श्रुतिस्मृती भवतः ।

तथा ग्रन्थाख्याया उपनिषद, आयतनं= आसमन्ताधतनं येन, ायतनमर्थावगम उपायः । वेदा.= त्रैगुण्यविषया, वेदाश्चत्वारो मन्त्र

ब्राह्मणात्मकाः। सर्वाङ्गाणि=शिक्षादीनि, उपाङ्गानि=मीमांसादीनि, सत्य=अनृतभावश्च। "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्य"मिति। एतानि समुदितानि आयतनं, न त्वायतनानि। एतदभावे नोपनिषदर्थो विज्ञातुं शक्यत इति-'तस्यै' इति वाक्य-भेदेन योजनीयम।

एतावता प्रबन्धेन सिद्धम् :—

भक्तिर्मुख्या, तस्यास्तपआदीन्यङ्गानि, तान्यपि साक्षात्परम्परया वोपकारकाणि, तयैवानायासेन ब्रह्मावाप्तिः फलम्। तस्या प्रतिपादिकोपनिषदपि वेदादिभ्य उत्कृष्टा प्रधानत्वात्। वेदादयः, तस्याश्चाङ्गानि ॥८॥३३॥

अथास्या उपनिषद्. शब्दतोऽर्थतश्च वेदने यत्फलं, तन्मन्द मध्यमयोरस्मिच्छास्त्रे प्रवृत्त्यर्थम्, प्ररोचना-न्यायेनाह शिष्याय, स्वाध्याय-प्रवृत्त्यर्थम् :—

"यो वा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानं, अनन्ते स्वर्गे-
लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति" ॥९॥३४॥

इति चतुर्थ. खण्ड।

'यः'= वेदेऽधिकारवॉस्त्रैवर्णिकः। 'वै' = इति श्रद्धालुत्वे निश्चय प्रतिपन्न। 'एतां'= मया तुभ्यमुपदिष्टाम. 'एव'मिति-अधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनैरुत्कर्षं गतां, नत्वन्यविद्यां ज्ञानकर्मप्रतिपादिकाम्. वेद=शब्दतोर्थतश्च जानाति, सोऽधिकारी पाप्मानं = शास्त्रार्थ-प्रतिपत्तौ प्रतिबन्धक पापम, अन्येनोपायेनाप्रतीकार्यता-द्योतनाय पुंस्त्वेन निर्दिष्ट, अपहत्य=स्वतः पृथक्करणेन स्वकार्याक्षम कृत्वा, अनन्ते लोके ज्येये च स्वर्गे प्रतितिष्ठति = प्रतिष्ठां लभते।

अयमर्थः :—

शब्दतो वेदने— पाप्मापवात., पदार्थज्ञाने— ज्येयात्मकस्वर्ग-

प्रतिष्ठा फलम्, महावाक्यार्थ-ज्ञाने तु – अनन्तात्मकस्वर्गप्रतिष्ठा फलम् । स्वर्गः = परलोकः, स च स्वर्गादारभ्याक्षरपर्यन्तम् । तत्र पदार्थ-ज्ञाता ज्येये प्रतितिष्ठति । प्रशस्यः भूलोकापेक्षया यः स ज्यायान् । "ज्यायादीयसः" इति छन्दसि विकल्पितम्, तेनाकाराभाव, प्रत्ययावयवसकार-लोपोऽपि छान्दस इति— निभालनीयम्।

प्ररोचना-वाक्यैः कर्म प्रशस्य भवति- इति ज्येयस्तद् भवति । तत्फलमपि स्वर्गः ज्यायान् । एव वाक्यार्थ-विज्ञाता लोके स्वर्गे प्रतितिष्ठति। लोको दर्शनात्मक आत्मा, ज्ञानमयः स्वर्गः । तज्जन्य-मात्म-सुखमपि लोकः । तत्र प्रतितिष्ठति= ततो न विचाल्यते, इति भावः ।

एवं महावाक्यार्थ-विज्ञस्तु- अनन्ते स्वर्गे प्रतितिष्ठति । " न स पुनरावर्तते " इति— श्रुत्युक्तो ब्रह्मात्मको लोकस्तत्र प्रतितिष्ठति, इति फलत उत्तमतास्य ग्रन्थस्य व्याख्याता । आवृत्तिः समाप्ति-बोधिका ॥९॥३४॥

उपसंहार-कारिकाः—

भक्त्यैव सर्वजीवानां निःश्रेयसमुदीरितम् ।
सैव कार्या, कर्मवतां ज्ञानिनामपि निश्चितम् ॥३८॥

प्रश्नेन संशयात्मत्त्वं यच्छिष्ये समुपागतम्-
गुरुर्निरस्य सिद्धान्तैस्तन्नाशं समकारयत् ॥३९॥

सा चेय ब्रह्मणो लीला भक्तिमेधयितुं कृता ।
यत्सदा प्रियकृज्जीवे ब्रह्म, तत्सेव्यतामिति ॥४०॥

एवं तात्पर्य-वृत्त्या तु भक्तिः साधु निरूपिता ।
'भक्तिर्हि सर्ववेदार्थ' इति तेन निरूपितम् ॥४१॥

इति सामवेदीय केनोपनिषन्मनस्विन्यां चतुर्थः खण्डः ।

समर्पण-कारिका —

वाचां पुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्य-चरणाब्जयोः-
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु क्षुद्रके मयि ॥४२॥

यत्कृपालवमाश्रित्य प्रवृत्तोऽहं महोद्यमे ।
पारं सुखं प्रयास्यामि, तं वन्दे वल्लभं हरेः ॥४३॥

ब्रह्म-निश्वासभूतानां वेदानां मर्मवित् प्रभोः -
श्रीमद्वल्लभवागीशादृते नान्योऽस्ति कश्चन ॥४४॥

अत्र धार्ष्ट्यं समालम्ब्योत्पथेन विहितं मया-
व्याख्यानमिदमुद्वृत्तं तत्क्षमन्तां विदो गुणैः ॥४५॥

अन्योपायेन यदपि विदां तोषो न शक्यते —
मया कर्तुमथाप्येतां दृष्ट्वा हास्येन सेत्स्यति ॥४६॥

इत्येवं मनसि ध्यात्वा कृतोऽयं क्षुद्र उद्यमः ।
मया स्व-स्वार्थ-विदुषा विदुषां सेवकेन हि ॥४७॥

अत्र यद् दूषणं किञ्चिज्जीव-बुद्ध्या भविष्यति ।
तदुद्धारे सन्त एव शक्ताः कृष्णात्मका यतः ॥४८॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरणाश्रितपोतुकूचि-श्रीबालकृष्ण-
शास्त्रिणा संकलिता केनोपनिषद्-व्याख्या
'मनस्विनी'-समाख्या समाप्ता ।

—०—

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

卐

शुभम्

हरि. ॐ

" आप्यायन्तु ममाङ्गानि० " इति शान्ति

" सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै !
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै " ।।

ॐ शान्तिः । शान्ति. ।। शान्ति ।।।

केनोपनिषन्मन्त्रानुक्रमणिका ।

—x—

प्र खण्डे मन्त्राः ८
द्वि खण्डे मन्त्राः .. ५
तृ खण्डे मन्त्राः १२
च खण्डे मन्त्राः ९
} ३४

—: उपन्यस्तवाक्य-स्थल-संकेत: —

प्रतीकम्	परिचय
अ—	
अग्निर्देवानामवमो विष्णुः	( )
अथ ह प्राण उच्चक्रमिषन्	(छान्दो ५-१-१२)
अथात आत्मादेशः	(छान्दो ७-२५-२)
अदुःखं कुर्वन्नमृत सप्रयच्छन्	(उपनि०)
अनन्ता हि दिशो दिशो वै	(बृह. ४-१-५)
अनिमित्ता भागवती भक्तिः	(भागवत)
अन्धो मणिमविन्दत्	(न्याय)
अपाणिपादो जवनो गृहीता	(श्वेता० ३-१९)
अपि सराधने प्रत्यक्षानु	(ब्रह्मसूत्र ३-२-२४)
अय लोकः परश्च	(बृह ४- -२)
अरा इव रथनाभौ प्राणे	(प्रश्न २-६)
अलौकिको हि वेदार्थो	(निबन्ध)
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम्	(गीता १२-६)
अष्टौ वसव एकादश रुद्रा	(बृह. ३-९-२)
असन्दिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणा-	(अणुभाष्य १।१।१)
अस्य विस्रममानस्य	(कठ २-५-४)
अहमेवैतत्पञ्चधात्मान	(प्रश्न २-३)
आ—	
आचार्यं मां विजानीयात्	(भाग० ११-१७-२७)
आचार्यवान्पुरुषो वेद	(छान्दो. ६-१४-२)
आतृणत्त्यवितथेन कर्णौ	(उपनि०)
आत्मक्रीड आत्मरतिः	(मुण्ड. ३-१-४)
आत्मलाभान्न पर विद्यते	(आप० धर्मसूत्रम्)
आत्मानं रथिन विद्धि	(कठ १-३-३)
आत्माप्यनीशः सुखदुःख	(श्वेता. १-२)
आत्मैवेदमग्र आसीत्	(ऐत. १-१)

स—

स ईक्षते मेनु लोकाश्च	(ऐत. १-२)
स ईक्षांचक्रे	(वृह. १-४-२)
स ऊ सर्वस्य श्रोत्रस्य	(उपनि०)
सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म	(तैति. २-१)
सत्येनलभ्यस्तपसाह्येष	(मुण्ड ३-१-५)
सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः	(छान्दो. ७-२६-२)
सदेव सौम्येदमग्र आसीत्	(,, ६-२-१)
समोनागेन समो मशकेन	(वृह. १-३-२२)
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः	(मुण्ड. ३-२-५)
सम्भावितस्य चाकीर्ति	(गीता २-३४)
स यदा मनसा मनस्यति	(छान्दो ७-३-१)
स वा एव एवं पश्यन्.... (आत्मरति)	(उपनि०)
स वेत्ति वेद्य नच तस्या	(श्वेता ३-९)
सर्वे वेदाय त्पदमाम	(कठ १-२-१५)
सर्वव्यापिनमात्मानं	(श्वेता. १-१६)
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः	(वृह ४-५-२२)
सर्वमिदमभ्यात्त	(उपनि०)
स वै नैव रेम तस्मादेकाकी	(वृह. १-४-३)
स सर्वज्ञ. सर्वमेव	(प्रश्न. ४-११)
स ईतावानास	(उपनि०)
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च	(श्वेता. ६-११)
सुप्तेषु वागादिषु प्राण	(उपनि०)
सोऽश्नुते सर्वान्कामान्	(तैत्ति. २-१)
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां	(कठ. १-२-११)
स्नेहाद्रागविनाशः स्यात्	(भक्तिवर्द्धिनी ४)

शुद्धि—पत्रकम्

अशुद्धिः	शुद्धिः	पत्रम्	पंक्तिः
संगृह्वामि	संगृह्णामि	१	१८
द्वेदान्स	–द्वेदान्त	२	३
च्छद्मा–	च्छद्मस्य	,,	२३
कारणानां	करणानां	३	६
प्रतिवन्धक	प्रतिबन्धक	३	७
व्यवस्था	व्यवस्था	,,	१३
अष्टाधा	अष्टधा	५	३
उच्छूखलं	उच्छृङ्खल	५	१०
परन्त्र	परतन्त्र	६	२४
नन्दख्या	नन्दाख्या	७	३
ब्रह्म.. ब्रह्म	ब्रह्म (अन्यत्रापि)	७।१६	४।७
तेनोमय	तेनोभयं	८	११
पारतभ्य	पारतन्त्र्य	,,	२२
ममिधत्ते	ममिधत्ते	,,	२७
अलौकिक	अलौकिक'	१०	३
मैच्छस	मैच्छत्	,,	९
सम्राट्ट ..गृह्वाति	सम्राट् गृह्णाति	११	५
दिंश	दिश	,,	६
श्रवणेऽन्स	श्रवणेऽन्त	,,	२३
सिद्ध्यति	सिद्ध्यति	१२	८
प्रमिति	प्रमिति	,,	१६
तद्ब्रह्मो	तद्ब्रह्मो	,,	२७
बुद्धीन्द्रिया	बुद्धीन्द्रिया	१३	५
वाधकमाव	वाधकभाव.	,,	११
तद्वूरे	तद्दूरे	,,	१६
सम्यग	सम्यग्	१४	१४
एमिः	एभि.	,,	१९

अशुद्धिः	शुद्धिः	पत्रम्	पंक्तिः
दिमिरपि . प्रति न्तु	दिमिरपि.. प्रतिहन्तु	१५	१२
भानन्दी	भानन्दो	,,	१६
मवितृत्वं भर्गस्त्व	. ....त्वं—त्त्वं	,,	२०
पद्मरुय	पद्मस्य	,,	२३
वन्तो. .वित्ते	वन्त...वित्ते	१६	६, ७
वन्ध	वन्ध	,,	१२
तात्पर्यम	तात्पर्यम्	,,	१४
तद्दिना	तद्विना	,,	१८
गच्छति	गच्छति	,,	२५
तद्दिदिता—भवि	तद्विदिता भवि	,,	२७
शक्तिमत्व	शक्तिमत्त्व (अग्रेपि)	१७	३, ६, ११
पूर्वेषां	पूर्वेषा	१९	३
महत्व	महत्त्व (अन्यत्रापि)	१९	६
वागिन्द्रियम्	वागिन्द्रियम्	,,	१४
विरुद्दस्व	विरुद्धस्व	२१	३
ब्रह्मण॰	ब्रह्मणः	२१।२३	६।१६
व्यंसनञ्च	व्यंसनञ्च	,,	२६
प्रवृति	प्रवृत्ति	२२	३
निरूपितम्	निरूपितम्	,,	२५
सुवेदेति...वेत्य	सुवेदेति...वेत्य	२३	९
स्वीकर्तव्यम्	स्वीकर्तव्यम्	२३	१२
विश्वस्यैक	विश्वस्यैकं	२४	२१
स्वभाव	स्वभाव	,,	२९
चक्षु स	चक्षु' स	२५	१७
विन्दत्यनृ	विन्दन्त्यनृ	,,	१९
गृह्णावि	गृह्णाति	२६	२३
माहात्म्यवस्वा	माहात्म्यवत्त्वा	,,	२६

अशुद्धिः	शुद्धिः	पत्रम्	पङ्क्तिः
तद्धात्मतत्वं	तद्धात्मतत्त्वं	२७	१७
स्वातन्त्र्यवत्वेन	स्वातन्त्र्यवत्त्वेन	२८	१९
वीर्यं=	वीर्यम्=	२९	२०
तद्धत्वेन	तद्धत्त्वेन	,	२६
चेद्दवेदीदथ	चेदवेदीदथ	३०	१५
चासत्व	चासत्त्व	३२	४
यदुक्त	यदुक्त	३४	१०
प्रतिरुद्ध	प्रतिरुद्ध	३८	२७
श धिक्यं	भाविक्य	४०	१४
किम	किम्	४१	१४
पासनोपयागि	पासनोपयोगि	,,	२१
तर्केणे	तर्केण	४४	२२
स्वाभाविक	स्वाभाविक	४६	१९
ते ह्यनन्ने	ते ह्येनन्ने	५०	११
धर्मवत्वे	धर्मवत्त्वे	५०	२९
चेतस	चेतसः	५४	२३
पतानां	पतीनां	५६	७
विमर्शी	विमर्शी	५८	२१
वृत्या	वृत्त्या	५९	७
	अनुक्रमणिकायाम्—		
तेऽग्निजवु	तेऽग्निमग्नु	१	४
जीवशेषो	..	.	' ज ' पंक्तौ

